श्रावणी

# आशापूर्णा देवी

परागप्रकाशन, दिल्ली-३२

मूल बंगला से अनुवाद

# देवलीना

मूल्य : दस रुपये / प्रथम संस्करण; १९७६/ आवरण : नीला चटर्जी / प्रकाशक : पराग प्रकाशन, ३/११४, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२ / मुद्रक : प्रगति प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२

---

SHRAVANI (*Novel*): ASHAPURNA DEVI

सुबह तक इस गृहस्थी का रंग-ढंग रोज़ दिन के समान था और जब हॉल में टंगी घड़ी में आठ बजकर सत्रह मिनट हुए, तब भी गृहस्थी का पहिया यथा नियम चल रहा था।

पौ फटते ही माली ने बगीचे में पानी पटाया था। नत्थूसिंह ने आकर गैरेज खोला और वह छोकरा जिस पर दोनों गाड़ियों की धूल झाड़ने और धोने आदि का जिम्मा था, अपने काम में लग गया था।

आठ बजकर सत्रह मिनट पर रसोई की रूपरेखा जैसी होनी चाहिए थी, वैसी ही थी। घड़ी के कांटों के कठोर निर्देश में लोकमोहन की गृहस्थी का पहिया रोज़ की तरह उस दिन भी उस घटना के घटने के पहले तक प्रतिदिन के नियमानुसार चल रहा था।

पर उस घटना को ठीक आठ बजकर सत्रह मिनट पर जैसे घटना ही था। अचानक आकस्मिक रूप से सब-कुछ बन्द हो गया।

पर नहीं। हॉल में टंगी उस खानदानी घड़ी की सुइयां अभी भी नहीं रुकी थीं। कुछ बन्द हो गया था तो लोकमोहन की गृहस्थी का चालू पहिया। एक जबर्दस्त धक्के से मानो अचानग ही उसकी गति रुक गयी।

तप्त रक्तवाही एक सजीव हृदय की गति अचानक ही बन्द हो गयी थी और उसके साथ ही लोक मोहन के घर-संसार पर घने बादल छा गए थे।

रोगी को देखकर डाक्टर स्तब्ध रह गए थे। नाड़ी देखने की जरूरत ही नहीं पड़ी। वे स्तब्ध मौन दृष्टि से केवल क्षणभर के लिए संज्ञाहीन निर्लिप्त चेहरे को देखते रहे थे पर लोगों को लग रहा था कि डाक्टर युग-युगान्तर से निश्चेष्ट भाव से रोगी के सम्मुख खड़े थे।

—डाक्टर साहब, आप नाड़ी क्यों नहीं देख रहे हैं ?

फिर अचानक गिद्ध के पंजों में फंसी एक गौरैया की भांति एक

मार्मिक आर्तनाद सुनायी पड़ी। यह आर्तनाद तीर की भांति डाक्टर के कानों में जा विधा और फिर कान से पूरी चेतना में फैल गया। डाक्टर लोकमोहन के पारिवारिक चिकित्सक थे। परिवार के सभी के गले की आवाज़ से परिचित भी थे—फिर भी इस क्षण उन्हें लगा यह कोई अपरिचित आवाज़ है। उनकी एक उदास दृष्टि उस आर्तनाद को खोजने के लिए सारे घर के लोगों पर दौड़ गयी।

इस दुःखद माहौल में विश्वमोहन का निष्प्राण शरीर पड़ा हुआ था। शव के चारों तरफ घर के लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। नौकर-चाकर से लेकर गाड़ी के ड्राइवर तक आ जुटे थे। मोहल्ले के दो-चार जन भी आ पहुंचे थे। भीड़ छंटने के लिए अगर इस समय डाक्टर साहव भी कोई कड़ा आदेश देते तव भी ये लोग यहां से हिलने वाले नहीं थे।

कभी विश्वमोहन के इस सजे-संवरे कमरे में उसके खास नौकर बिण्टु के अलावा और कोई झांकने तक की हिम्मत नहीं कर सकता था। पर आज यहां आने में कोई वाधा नहीं थी। सवको छूट मिल गयी थी। गम्भीर स्वभाव का विश्वमोहन आज अपनी सारी गंभीरता छोड़कर असहाय शिशु की भांति पड़ा रहकर उनके साहस को मानो समर्थन दे रहा था। सभी चुप थे।

डाक्टर को लगा इस निस्तव्ध भीड़ की आकुलता और उत्कंठा का आवेग एक तीक्ष्ण वाण की भांति उसे वींधने को तैयार है। यह वाण उस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का वाण था। प्रश्न का यह वाण वस इसी प्रतीक्षा में था कि डाक्टर कव विश्वमोहन की नाड़ी से हाथ हटाए। लगता था जैसे ही वह समय पूरा हो जाएगा अर्थात् नाड़ी के स्पन्दन के अनुभव की भूमिका खत्म होते ही वह तीक्ष्ण वाण डाक्टर पर छूट पड़ेगा।

—क्या देखा आपने, डाक्टर साहव ?

ऐसी स्थिति में किस हिम्मत से डाक्टर रोगी की नाड़ी देख भी सकता है ? पर विना देखे उपाय भी क्या था ?

कोई आहत पक्षी अपने पंखों को पछाड़ता हुआ पूछ रहा था—आप नाड़ी क्यों नहीं देख रहे, डाक्टर साहव ?

डाक्टर ने आंखें उठाईं। आवाज़ विश्वमोहन की मां अनुसूया की थी, जिसकी चिकित्सा के लिए डाक्टर को महीने में तीन-चार बार आना ही पड़ता था।

विश्वमोहन के पत्थर-से स्थिर पड़े हुए हाथ को डाक्टर ने अपनी तीन उंगलियों से दबाया पर जहां प्रतिदिन हर पल जीवन रहता है—कहता है—'मैं हूं, मैं हूं'; वहां आज जीवन का वह स्पन्दन कहां ?

नाड़ी पर हाथ रखे असहाय दृष्टि से डाक्टर ने विश्वमोहन के पिता लोकमोहन की तरफ देखा।

पत्थर की तरह मजबूत सेहत है लोकमोहन की। उनके लिए कभी भी डाक्टर को इस घर में आना पड़ा है या नहीं, यह शायद डाक्टर सोच-कर ही बता सकते थे। डिस्ट्रिक्ट जज के पद से रिटायर होने के बाद वे अब सचिवालय में किसी ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित थे। चाल-ढाल और व्यवहार से इस प्रौढ़ावस्था में भी उस ऊंचे पद की गरिमा झलकती थी।

पर आज लोकमोहन पूर्णतः बदले हुए-से लगते थे। आज उनके चेहरे पर उस ऊंचे पद का परिचय नहीं लिखा हुआ था—चेहरे पर जीवन भर दूसरों के बारे में फैसला देने वाले जज की भी कोई छाप नहीं थी।

आज उनका चेहरा एक वृद्ध का चेहरा था। आतंकित और विचलित आंखों में अजीब-सा सूनापन था। डाक्टर की असहाय दृष्टि के सामने पड़कर उनकी शून्य दृष्टि अनन्त शून्य में डूब गयी थी।

डाक्टर की आशंका व्यर्थ गयी। जो जहां खड़े थे, मूर्तिवत खड़े रहे। किसी ने नहीं पूछा —मरीज का क्या हाल है, डाक्टर बाबू ? क्योंकि सभी समझ गए थे कि प्रश्न करने लायक अब कुछ रहा नहीं था। डाक्टर की उस असहाय दृष्टि में ही सभी अपना उत्तर पा गये थे।

किसी ने कुछ नहीं पूछा। सिर्फ विश्वमोहन पर से जब डाक्टर ने अपना हाथ हटा लिया तब एक और पक्षी—'ओह, मां ?' कहकर बिलख उठा।

बस एक बार से अधिक वह शब्द फिर उच्चारित नहीं हुआ। आर्तनाद करने वाली ने केवल विश्वमोहन के निष्प्राण शरीर पर गिर-कर उसमें अपना मुंह छिपा लिया। वह थी विश्वमोहन की प्यारी पत्नी

श्रावणी।

लज्जा और संकोच का प्रश्न खो गया था और फिर सर्वनाश के चरम मुहूर्त में लज्जा की जगह ही कहां ? लज्जा, भय, शर्म संकोच, और सभ्यता का आश्रय जिस चेतना में रहता है इस आकस्मिक आघात से श्रावणी उस चेतना को ही तो खो बैठी थी। डाक्टर की राय के पहले तक सोलह आने आशंका के बीच भी एक क्षीण आशा रह गयी थी—भाग्य और ईश्वर पर थोड़ा-सा भरोसा रह गया था—अब वह आशा और विश्वास की जड़ ही उखड़ गयी थी। अपनी चेतना खोकर निढाल पड़ जाने के अलावा और क्या करने की शक्ति उसमें रह ही गयी थी ?

ताज्जुब तो यह था कि चिररुग्णा अनुसूया ने अपने होश संभाल लिये थे पर सुगठित, स्वस्थ, नवयौवना श्रावणी अपनी चेतना खो बैठी थी।

शायद ससुर लोकमोहन की आंखों के अनन्त शून्य की छाया में श्रावणी ने अपने जीवन के भविष्य को देखा था और उसी शून्य में उसकी सांस रुक गयी और वह बेहोश हो गयी थी। पति की मृत देह पर वह भी मृतवत् पड़ी रही। किसी ने उसके मुंह पर पानी के छींटे नहीं डाले, उसे उठाने की कोशिश नहीं की। क्या सभी लोग आज यह भूल बैठे थे कि श्रावणी कितनी कीमती है ? लोग भूल गए थे कि लोकमोहन की बड़ी स्नेह और आदर की पुत्रवधू थी वह। विश्वमोहन की बड़े सुख और प्यार की पत्नी थी वह। इस क्षण क्या यह भी लोग भूल गए कि अभी तो शादी को एक साल भी पूरा नहीं हुआ था। विवाह की पहली वर्षगांठ धूमधाम से मनाने के लिए जोर-शोर से तैयारियां चल ही रही थीं।

हो सकता था इस क्षण किसी को ये बातें याद नहीं पड़ रही हों। थर्मामीटर का पारा ठंडे पानी में अचानक ही बहुत नीचे गिर जाता है—क्या उसी तरह श्रावणी का सम्मान देखते-देखते कम हो गया था ? विश्व-मोहन का गरम शरीर एकाएक ठंडा पड़ गया था, क्या इसीलिए ? या फिर ममतावश ही लोगों ने उसे इस तरह चेतनाहीन छोड़ रखा था ? चेतना के जगत् में उसे लौटाने का अर्थ ही तो था—उसे असीम दुःख के आगे असहाय खड़ा कर देना। इससे क्या लाभ ?

अनुसूया के महीन रुग्ण गले के विलाप के आगे श्रावणी का नीरव दुख मानो दब गया। अनुसूया रो-रोकर कराह रही थी—अरे, यह क्या हो गया रे! मेरा सोने-जैसा लड़का। सुबह बिस्तर से रोज़ की तरह भला-चंगा उठा, अभी तो यहां बैठकर उसने चाय पी थी। उसे एकाएक क्या हो गया? किसने क्या कर दिया? इसीलिए तो मेरा बच्चा फिर उठा नहीं, खाया नहीं। 'मां' कहकर पुकारा नहीं। एक बार आंखें खोल, बेटा! एक बार तो देख। सात दुनिया ढूंढ़कर तेरे लिए बहू लायी थी, उसे किस तरह छोड़ गया है? हाहाकार नहीं, अनुसूया केवल दुर्बल स्वर में विलाप कर रही थी। चिल्ला-चिल्लाकर, छाती पीट-पीटकर शोक प्रकट करने की क्षमता अनुसूया में नहीं थी। हमेशा की रोगिनी वह अपनी छाती निचोड़कर शोक जता रही थी। उसके बाद तो डाक्टर भी बगल वाले कमरे में चले गए थे। लोकमोहन का एक भानजा सीढ़ी के पास रखे टेलीफोन रिसीवर को उठाकर एक के बाद एक नम्बर घुमाता रहता और समाचार सुनाता—"यही कुछ ही देर पहले यह घटना घटी। रोज़ की तरह सुबह नहा-धोकर नाश्ता-पानी किया, फिर आफिस जाने के लिए कपड़े पहनने लगे···क्या कह रहे हैं? खाने में कुछ गड़बड़ी? नहीं-नहीं। यह बात नहीं। सभी ने तो एक साथ एक ही टेबल पर खाया था···डाक्टर के आने के पहले ही सब-कुछ खतम हो गया।···डाक्टर का कहना है ब्लड प्रेशर से ही···नहीं, हाल में तो प्रेशर बढ़ा नहीं था। अचानक ही···"

इतनी बड़ी खबर चारों तरफ पहुंचाने का ओहदा पाकर छोकरा खुशी से डगमगा रहा था। खैर। सिर्फ लोकमोहन के भानजे की शिकायत करने से क्या फायदा? मनुष्य स्वभाव ही यही है। किसी के दुःख या शोक की खबर या शोचनीय आकस्मिक मृत्यु का समाचार या किसी की गम्भीर बीमारी की खबर एक-दूसरे को बताकर मनुष्य को जितना रस मिलता है—उसका एक प्रतिशत भी सुख दूसरों के सुख, आनन्द, उन्नति या आकस्मिक सौभाग्य का समाचार सुनाकर नहीं होता।

मनुष्य का यही स्वभाव है। दूसरों पर करुणा जताने, सहानुभूति दरशाने और दया दिखाने में ही लोगों को खुशी होती है। इसके लिए लोग उत्सुक रहते हैं। और जब तक यह अवसर प्राप्त नहीं होता, हृदय

की यह वृत्ति निकम्मी बनकर पड़ी रहती है। इसीलिए तो दूसरों की विपत्ति में अवचेतन मन मानो तृप्ति से भर उठता है। यही तृप्ति सहानुभूति का मुखौटा चढ़ा लेती है। फिर कोई कहता है—सुना आपने, उनके घर ऐसा हो गया, बड़े दुःख की बात है।

लोकमोहन के घर में आयी यह आकस्मिक विपत्ति भी आज बहुतों के घरों में आलोचना की अच्छी खुराक बनेगी। बहुतों के हृदय में दबा वह 'आ··ह' का शब्द विश्वमोहन की मृत्यु पर अब सार्थक हो उठेगा।

और यह 'आ ह' रूपी संवेदना ही क्या कम जोरदार है? विश्व-मोहन लोकमोहन का एकमात्र पुत्र था। यही तो अंतिम बात नहीं थी। वह रूपवान, गुणी, सुशिक्षित था। और उस पर उसका विवाह भी हाल ही में हुआ था। अंतिम खबर ही तो असली खबर थी।

रुग्णा, दुर्बल, वृद्धा अनुसूया का करुण शोक नवयौवना श्रावणी के अकाल वैधव्य की चोट से तुच्छ हो गया था। श्रावणी का वैधव्य मानो विधाता की निष्ठुरता के प्रखर नमूने के तौर पर जल रहा था।

लोकमोहन पत्थर की भांति बैठे हुए थे। आकस्मिक आघात से चेहरे की जो रेखाएं लटक गयी थीं, धीरे-धीरे फिर तन गयीं। लोकमोहन अब पहले के लोकमोहन बन गए थे। अब वे स्थिर, संभ्रान्त, आत्मस्थ बन चुके थे—मानो इतनी देर में ही विधाता के व्यंग्य को वापस कर देने की शक्ति उन्होंने जुटा ली हो। भाग्य की इस निष्ठुरता से उन्होंने इतनी देर में समझौता कर लिया था। पत्थर की मूर्ति की तरह वे इस दृश्य को देख रहे थे, बेटे का एक हाथ दोनों हाथों में लेकर सदा बीमार अनुसूया का रोना, और देख रहे थे पति की छाती पर बेहोश पड़ी श्रावणी की मृदु सांसों के भार से उठती-गिरती हुई उसकी पीठ को, और विश्वमोहन के भावहीन चेहरे को। यह सब देखते सहसा मन ही मन एक संकल्प कर बैठे लोकमोहन। उठकर इस कमरे में आए और जीवन भर जज के रूप में काम करने की उसी पुरानी गंभीरता से बोले—और अधिक देर करने से क्या फायदा, डाक्टर?

डाक्टर उठ खड़े हुए।

इस परिवार के लिए डाक्टर सिर्फ डाक्टर ही नहीं थे, इस परिवार के

एक सदस्य के समान थे। केवल डेथ सर्टिफिकेट लिख देने पर ही उनका काम समाप्त नहीं हो जाने वाला था। उन्हें विश्वमोहन की अंतिम यात्रा की व्यवस्था में भी हाथ बंटाना था। मकान भीड़ से भर चुका था। भीड़ सड़क तक लगी हुई थी।

विश्वमोहन के कितने ही दोस्त, हितैषी, आत्मीय, अनुसूया के कितने ही परिचित और लोकमोहन के अधीनस्थ—सभी तो आए थे। विश्वमोहन के विवाह के दिन भी तो ये ही लोग आए थे। पर उस दिन के आने में एक आनन्द था। आज कुछ नहीं। आज इनके आने पर कोई पाबन्दी होती तो शायद अच्छा ही होता।

भयंकर आग से सारा गांव भस्मीभूत हो जाने पर भी उस जली हुई मिट्टी पर फिर से नए झोंपड़े बसाए जा सकते हैं। बाढ़ में निश्चिह्न हुए भूखण्ड के किनारे रेतीली ज़मीन फिर अपनी जगह बना लेती है। बेजान मरू प्रदेश में फिर नए जीवन का प्रवाह हो सकता है। आंधी में उखड़े पेड़ों की विध्वस्त डालों पर फिर नए पत्तों के अंकुर निकलते हैं। यही नियम है, यही प्राकृतिक विधान है। गतिशील दुनिया मृत्यु को गोद में लेकर अधिक दिनों तक नहीं बैठ सकती।

इसलिए लोकमोहन के रसोईघर में फिर से चूल्हा जला। खाना भी बना। शाम को बत्ती जलायी गयी। नौकर-चाकर मकान के फर्नीचर की धूल झाड़ने लगे। ड्राइंग रूम को सजाकर रखने लगे। खिड़की-दरवाजों के अधमैले पर्दों को उतारकर धोबी के धुले पर्दे लगाए गए। बगीचे में पौधों पर पानी छिड़काया गया। कुत्तों के लिए मांस और हड्डियां फिर से आनी शुरू हो गयीं। घर में मेहमान आने पर उनके लिए चाय-नाश्ता बनने लगा।

श्रावणी का मन थोड़ा बहल जाए, इसी उद्देश्य से किसी एक दिन रात को संभवत: लोकमोहन ने रेडियो भी खोला था।

बाहर वालों की दृष्टि में गृहस्थी का चेहरा फिर पहले जैसा ही हो गया। केवल गृहस्थी का उजाला खो गया था, उसके प्राणों का रस सूख-सा गया था। संसार-यात्रा की गति धीमी पड़ गयी थी, जैसे किसी भी तरह सब-कुछ चल रहा है। किसी बात के लिए किसी को कोई जल्दी

नहीं रही।

पहले बीमार अनुसूया कई बार खाने की टेबल पर नहीं आकर अपने कमरे में ही खाना मंगवा लेती। पर अब वह रोज खाना अपने कमरे में ही खाती—कभी भी टेबल पर नहीं बैठती। परिवर्तन सिर्फ इतना ही था, खाने की जिस टेबल पर सामिप भोजन के प्लेट सजे रहते, उसके बदले कुछ साग-सब्जी और अनाज ही रखा जाता। व्यतिक्रम केवल यही था।

बाहरी नजर से और कितना देखा भी जा सकता है? अभाव के घर में अगर गृहस्थी की नींव ढह जाए, उसका कमाऊ पुत्र मर जाए तो उस परिवार की हालत बहुत ही दुःखद हो उठती है। फिर अभाव के उस हाहाकार की भयंकर ताड़ना में उस मनुष्य की कमी और भी अधिक सताती है।

पर सम्पन्न परिवार का चेहरा कुछ और ही होता है। उसकी नींव ही मजबूत होती है। दोनों गराजों में दो गाड़ियां हैं या एक ही—इसमें क्या खास फर्क है?

लोकमोहन तो सुबह-शाम गाड़ी से ही दफ्तर आते-जाते थे। पहले कभी-कभार ड्राइवर को बगल में बैठाकर खुद गाड़ी चलाते, लेकिन अब बराबर पीछे की सीट पर पीठ टेककर ही बैठे रहते—यह भी कोई खास उल्लेखनीय बात नहीं थी।

इतनी बड़ी घटना घट गई, पर गृहस्थी का रूप कोई खास नहीं बदला था। श्रावणी का रूप भी आखिर कितना बदला था? सभ्य समाज में बदलता भी कितना है? सफेद साड़ी तो वह हमेशा से ही पहनना पसन्द करती थी। ढेर सारी रंगीन साड़ियों के बावजूद उसने अपने को रंगों में नहीं डुबाया था। वह अब भी पहले की ही तरह सफेद साड़ी पहनती थी। हाथ में, गले में, कानों में साधारण आभूषण। उन्हें उतारने की नौबत ही नहीं पड़ी। मांग में भी सिन्दूर की हल्की-सी ही लकीर खींचती थी। कई बार तो वह नजर ही नहीं आती। संवेदना जताने के लिए आने वाले आत्मीय परिजन श्रावणी के रूप को देखकर सिहरकर मूक बन जाएंगे, हाहाकार से मचल उठेंगे—इस तरह का आयोजन इस परिवार में कहीं नहीं था। इसलिए रिश्तेदार अलग से कहते—उफ़, कितनी कठोर

है ? मोहल्ले के लोग कहते—पैसे की महत्ता को दाद देनी पड़ेगी।

पर एक बात के लिए मन ही मन श्रावणी विद्रोह कर बैठी। अब तक उसका विद्रोह केवल बातों तक था पर आज उसने विद्रोह को साकार बनाकर ही छोड़ा। वह ससुर के लिए अपने हाथों से सामिष भोजन बना लायी थी।

सास अनुसूया मछली के बिना एक कौर भी चावल नहीं खा पाती—श्रावणी यह भी जानती थी। पर उनका त्याग स्वाभाविक और सहज था। पर थाली में मांस की अनुपस्थिति जो आदमी एक दिन के लिए भी बर्दाश्त नहीं कर सकता था, तीज-त्योहार-व्रत आदि की भी परवाह नहीं करता, वही लोकमोहन अब दोनों समय साग-सब्जी और उबले आलू खा रहे थे—श्रावणी यह कैसे सह सकती थी! सिर्फ स्नेह के कारण ही नहीं, इसमें तो लज्जा का भी प्रश्न था। और इस नाटक की नायिका श्रावणी स्वयं थी, इसीलिए तो साहस का हाथ फैलाकर वह ससुर के सामने आकर खड़ी हो सकी। अगर बेटी विधवा हो जाती, और लोकमोहन उस विधवा बेटी के लिए संयम की साधना करते तो आज मांस बनाकर ससुर को खाने के लिए कहने की हिम्मत श्रावणी को—जिसने साल भर पहले ही इस घर में कदम रखा था—नहीं हो सकती थी। पर क्योंकि यहां परिवार के सभी के दुःख का कारण वह स्वयं थी, इसलिए प्यार और लज्जा से भी ऐसा करना वह अपनी जिम्मेदारी मानती थी।

रूप-रंग और गंध से ही परिचय मिल जाता है। लोकमोहन खाने के लिए बैठे ही थे। पूछा—यह क्या ? कटोरा थाली के करीब खिसकाकर श्रावणी बोली—कोई खास चीज नहीं। पर मेरी बात आपको माननी ही पड़ेगी। यह खाना पड़ेगा।

—मांस ? एक अस्फुट-सा उच्चारण लोकमोहन के होंठों पर खिला और इस उच्चारण के साथ ही उनके चेहरे की कठिन मांसपेशियां एक लमहे के लिए शिथिल पड़ गयीं। चिर-परिचित आहार की उग्र सुगन्ध ने उनकी जीभ को दुर्बल बना डाला या नहीं, समझना मुश्किल था।

पर बड़ी आसानी से उन्होंने कटोरा दूर हटा दिया। बोले—मुझे जो कुछ कहना था, मैंने उसी दिन तुम्हें बता दिया था, वह।

लोकमोहन श्रावणी को 'वहू' कहकर ही पुकारते, नाम से नहीं। आधुनिकता के वहुतेरे रंग-ढंग अपनाने पर भी 'बहू' को 'वहू' कहकर पुकारने की प्राचीन पद्धति को वे छोड़ नहीं पाए थे। वेटे की शादी के वाद ही उन्होंने पत्नी से कहा था—'वहू' कहकर पुकारना ही अच्छा रहेगा। वड़ा मीठा शब्द है। वचपन में दादाजी मां को 'वहू' पुकारते थे, फिर वाद में पिताजी भी तुम्हें उसी तरह पुकारते थे। वड़ा अच्छा लगता था।

उसी प्यार के सम्वोधन से उन्होंने अव श्रावणी से कहा—अगर तुम मेरी शर्त नहीं मान सकती तो मैं तुम्हारा अनुरोध कैसे रख सकता हूं !

श्रावणी कई वार मन ही मन उदास हो जाती, पर आवाज़ में करुणा झलके—इसमें उसे शर्म आती थी। इसलिए शांत सहज भाव से वोली—आपकी शर्त तो असंभव है, वावूजी !

—नहीं। असंभव नहीं। लोकमोहन गम्भीर आवाज़ में वोले—मैं कह रहा हूं न, असंभव नहीं है।

लोकमोहन का यह भानजा अनादि अव तक इसी ताक में वैठा था कि दोनों की वातचीत के वाद फैसला क्या होता है। वह देखना चाहता था कि वहू के हाथों के वनाए इस प्रिय भोजन को मामाजी खाने से कैसे इनकार करते हैं। अनादि यह भी सोच रहा था—गृहस्थी तो पूरे दम से सही-सलामत चल ही रही है। वावा फिर सिर्फ खाने की थाली में ही इतनी रिक्तता क्यों ? लोकमोहन यदि अपना इरादा वदल दें तो वह भी चैन की सांस ले सकेगा। पुत्र के शोक ने मामा को कितना विचलित किया था इसका अन्दाज तो अनादि नहीं लगा पाता लेकिन पुत्र-वधू के वैधव्य ने उन्हें जरूर गहरा धक्का पहुंचाया था—यह उसे मालूम था। नहीं तो वह ससुर होकर विधवा वहू से सामिष खाने का अनुरोध नहीं करते। उस दिन तो वात हो ही गयी थी। श्रावणी वोली थी—नहीं वावूजी, आप इस तरह और कष्ट नहीं भोग सकते। आपको अपनी आदत के अनुसार खाना ही पड़ेगा।

लोकमोहन वोले—खा सकता हूं। यदि तुम भी अपनी पुरानी आदत वापस लौटा सको तो !

—मैं ?

—हां, तुम। तुम्हारे ही बारे में कह रहा हूं। हैरान होने की कोई वात नहीं। अगर तुम भी स्वाभाविक खाना खा सको तो मैं भी खाऊंगा।

इसके जवाब में श्रावणी इसके सिवा और क्या वोल सकती थी कि आप तो एक अजीव वात कह रहे हैं, वावूजी। जो काम असंभव···

—मैंने तो तुम्हें कह ही दिया है न वहू, कि असंभव शब्द मेरे शब्दकोश में नहीं है।

अनादि से और नहीं रहा गया। अचानक बीच में वोल पड़ा—लेकिन मामाजी, आप असंभव वात ही तो कर रहे हैं। कुछ भी हो, एक हिन्दू परिवार की विधवा लड़की···

लोकमोहन की भौंहें तन गयीं। अनादि अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि चुप हो गया। इसी समय अनुसूया अपने कमरे से निकल आयी। विश्वमोहन की मृत्यु के वाद से आज तक वह कभी खाने की मेज़ पर नहीं आयी थी, कुछ पूछा भी नहीं था। पर आज वह देखने आयी थी कि वाकई लोकमोहन पुत्र-शोक को भूलकर अपनी आदत के खान-पान पर उतर आए हैं या नहीं। दुतल्ले के बरामदे में हीटर जलाकर श्रावणी विशेष खाना बना रही थी। इस दृश्य ने अनुसूया के क्रोध को चरम सीमा तक पहुंचा दिया।

शादी के वाद विश्वमोहन ने प्यार से कहा था—खाना तो मैं 'वहू' के हाथ का ही खाऊंगा। फिर अनुसूया ने रसोई की सारी चीजें नई खरीदकर दी थीं। आज श्रावणी उन्हीं चीज़ों को लेकर फिर से खाना वनाने वैठी थी। अनुसूया के आने से अनादि का ग्रह टल गया। क्षीण आवाज़ में अनुसूया ने पूछा—तुम लोगों ने अभी तक खाया नहीं ?

जवाव किसी ने नहीं दिया।

अनुसूया ने फिर पूछा—आज श्रावणी ने खाना वनाया है न ?

इस वार लोकमोहन ने जवाव दिया—हां। और उसी व्यंजन को खिलाने के लिए ही···

—तो फिर खा क्यों नहीं रहे हो ? इसने प्यार से जो वनाया है। पर अनुसूया के इस कथन में कोई आन्तरिकता का सुर नहीं था, व्यंग्य था।

विश्वमोहन की मृत्यु के वाद अनुसूया का स्वभाव वहुत ही वदल

गया था। वह शरीर से कमजोर हो गयी थी, पर मन ही मन कठोर बन गयी थी। श्रावणी को देखते ही उसका रूखापन बढ़ जाता था। वह किसी भी तरह श्रावणी को सहन नहीं कर पा रही थी।

लोकमोहन ने कभी इस तरफ ध्यान दिया था या नहीं यह तो पता नहीं, पर अपनी स्वाभाविक गंभीरता से उन्होंने कहा—जरूर खाऊंगा पर इसी शर्त पर खाऊंगा कि बहू को भी इसे खाना पड़ेगा।

—क्या कहा ? अनुसूया चीख उठी—मुर्गे का मांस बहू खाएगी ?

—तो क्या हुआ ?

—क्या हुआ ? बोलने में तुम्हारी जीभ नहीं अटकी ?

—नहीं अटकी। स्थिर स्वर में लोकमोहन ने कहा—मुझे इससे कठिन शब्दों को भी कहने में कोई हिचक नहीं। मैं उसका विवाह भी फिर करूंगा।

एकाएक टेबल पर मानो बिजली गिर पड़ी—नहीं तो सब कुछ इस तरह से झनझना कैसे उठता ? पर नहीं, बिजली नहीं— केवल अनादि के हाथ से एक चम्मच गिर पड़ा था।

और श्रावणी ? वह शांत-निश्चल होकर बैठी रही। चौंकी नहीं। सिहरन की एक लहर भी नहीं दिखी।

श्रावणी हैरान नहीं हुई थी। लोकमोहन के इस दुःसाहसपूर्ण संकल्प की बात वह पहले ही जान गयी थी। विश्वमोहन की अन्त्येष्टि के बाद श्रावणी को कागज़ का एक टुकड़ा मिला था। हवा के झोंके में वह टेबल से उड़ गया था। उस टुकड़े को हाथ में लेकर श्रावणी ने एक अर्थहीन दृष्टि से उसे देखा था। लोकमोहन ने अस्तव्यस्त ढंग से उस कागज़ पर लिखा था—भगवन्। चाबुक। समाज। चाबुक। नहीं मानूंगा। पुनर्विवाह। अवज्ञा।

एक लम्बी सांस के साथ श्रावणी ने उस टुकड़े को फाड़ दिया था। टुकड़े पर उस दिन की तारीख तक स्पष्ट थी।

खाने की मेज़ पर सभी स्थिर बैठे थे। सबों पर एक नजर दौड़ाकर अनुसूया तीखे व्यंग्य के अंगारे उगलती हुई बोली—इसका दुबारा विवाह करोगे ? अब तक शायद लड़का भी ठीक कर चुके होगे ?

आंवाज़ में बोले—बैठो।

अल्प-भाषिणी श्रावणी इधर में और भी अल्पवाक् हो गयी थी। कभी भी कोई प्रश्न नहीं करती, केवल आदेश की प्रतीक्षा में रहती। लोकमोहन के आदेश पर बैठ गयी। पर उसने पूछा नहीं—आपने मुझे बुलाया किसलिए?

लोकमोहन ने एक लिफाफा उसकी तरफ बढ़ा दिया। बोले—पढ़कर देखो।

श्रावणी ने चिट्ठी हाथ में ली।

लोकमोहन बोले—तुम्हारे माता-पिता तो कोई जीवित नहीं, इसलिए मैंने सोचा कि उस तरफ से तो कोई राय लेने की जरूरत नहीं। पर हां, तुम्हारा एक भाई है। कानूनन वह तुम्हारा अभिभावक है या नहीं, मैं नहीं जानता। पर 'वह है' यह उसी ने मुझे सूचित किया है। अब मैं तुमसे इसका उत्तर सुनना चाहता हूं।

भाई ने क्या लिखा है, श्रावणी ने यह भी नहीं पूछा। चिट्ठी खोलकर धीरे-धीरे पढ़ने लगी। बर्फ जैसे सुकुमार चेहरे में मानो शरीर का सारा खून आकर जमा हो गया था।

श्रावणी के मन में अपने भैया के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा कभी नहीं थी। फिर भी इस तरह का पत्र लिखकर वह लोकमोहन के सामने अपने को इतना छोटा साबित करेगा, यह उसने कभी नहीं सोचा था।

बड़े ही कठोर शब्दों में श्रावणी के बड़े भाई संजय ने लिखा था कि लोकमोहन दिखावटी सहानुभूति से ग्रस्त होकर अपनी विधवा पुत्रवधू की शादी का विचार कर रहे थे। असल बात कुछ और ही थी। वह अपनी विधवा बहू को उपार्जन का माध्यम बना रहे थे। उसकी राय में बात बहुत सीधी थी। विश्वमोहन की मृत्यु से परिवार की आय का एक बड़ा अंश घट गया था। पर दिखावे के लिए खानदानी सम्पन्नता को तो क़ायम रखना ही था। पर उसने लिखा था कि जब तक उसकी जान में जान है, वह लोकमोहन की इस साज़िश को कदापि सफल नहीं होने देगा। श्रावणी को वह अपने पास ही रखेगा। विधवा बहन को एक शाम मुट्ठी भर खाना देने की क्षमता उसमें थी। एक-दो दिनों में ही बहन को लिवाने

के लिए वह रवाना हो रहा था ··और उसने लोकमोहन को इसके लिए तैयार रहने के लिए लिखा था।

चिट्ठी पढ़कर श्रावणी ने उसे मेज पर रख दिया। लोकमोहन थोड़ा हंसकर व्यंग्य से बोले—तुम्हारा भाई इतना पराक्रमी है मुझे अब तक मालूम भी नहीं था। इस चिट्ठी से यह स्पष्ट था कि संजय विधवा बहन को एक शाम का खाना ही नहीं, बल्कि लोकमोहन जैसे आदमी को ऐसा कठोर पत्र लिखकर धमकाने का भी साहस कर सकता था। लोकमोहन के व्यंग्य से ये बातें स्पष्ट हो गयी थीं। श्रावणी धीरे से बोली—बचपन में टायफायड की बीमारी से भैया की बुद्धि का विकास रुक गया था।

वह बुद्धि फिर लौटी नहीं क्यों? खैर, उसकी क्षमता के रहस्य का तो पता चल ही गया। पर वह तो बहुत दूर रहता है। मेरी इस साज़िश को उस तक पहुंचाने वाला हितैषी व्यक्ति इसी परिवार का है, यह तो स्पष्ट है। फिर बोले—अनुमान लगा सकती हो, वह कौन है?

अनुमान क्यों, श्रावणी का पक्का विश्वास था कि अनादि के अलावा इस घर की बातों को दूसरों तक कोई नहीं फैला सकता था। पर यह बात किसी से कही तो जा नहीं सकती थी इसलिए श्रावणी ने सिर हिलाकर 'ना' कह दिया।

—नहीं जानती? शायद मैं समझ सकता हूं। खैर। तुम्हारा भाई तो शीघ्र ही इस गरीब के घर अपने चरणों की धूल देने आ रहा है। तुम क्या चाहती हो? उनके साथ जाना चाहोगी?

—नहीं।

—ठीक है। इतना ही जानने के लिए मैंने तुम्हें यहां बुलवाया था। हां, तुमसे एक और भी काम था। लोकमोहन थोड़ी देर चुप रहे, फिर संकोच छोड़कर बोले—मैं तुम्हें कुछ फोटो दिखाना चाहता हूं। थोड़ा समय निकाल सकोगी?

फोटो? कुछ फोटो? किसकी फोटो? कैसी फोटो? श्रावणी का शरीर ठंडा पड़ गया। यह किस चीज़ की भूमिका थी? श्रावणी पत्थर की तरह निश्चल खड़ी रही।

—अगर अभी समय नहीं है तो बाद में आना। हो सके तो मन को

आ जाना।

श्रावणी वोली—वावूजी ! मां को दवा देने का समय हो गया है। इतना कहकर वह उठ खड़ी हुई।

लोकमोहन ने मेज़ की दराज खोलकर एक भारी-सा लिफाफा निकाला जिस पर फोटोग्राफर की दूकान की छाप लगी हुई थी। फिर उसे टेवल पर रखते हुए वोले—अच्छी वात है। उनके कहने का मतलव था कि लिफ़ाफे में रखे सारे फोटो पहले वह स्वयं ही एक वार देखेंगे। श्रावणी जाते-जाते वोली—हम लोग तो अच्छे ही हैं, वावूजी ?

लोकमोहन संभवतः ऐसा कुछ सुनने के लिए तैयार नहीं थे। इसलिए चौंक उठे, पर फिर अपनी उसी गंभीर आवाज़ में वोले—नहीं वहू, अच्छे नहीं हैं।

वहुत वड़ा-सा कमरा और उस कमरे के वीचोवीच डवल वेड पर सुन्दर-सी चादर विछा हुआ विस्तर लगा था। आधुनिक ढंग से ड्रेसिंग टेवल भी था। कीमती गोदरेज की अलमारी रखी हुई थी जिसकी पालिश में इतनी चमक थी कि रोशनी भी उस पर से फिसल जाती थी। कॉर्नर टेवल पर छोटी-मोटी सजावट की चीज़ें पड़ी थीं। दोनों खिड़कियों के वीच किताबों का एक शेल्फ था। उस शेल्फ पर इस कमरे का जो मालिक था और जिसने उस मिलकियत को छोड़ने में एक पल की भी देर नहीं की उसी निष्ठुर का एक फोटो भी रखा हुआ था। फोटो के नीचे खुला चश्मा और हाथ-घड़ी रखी हुई थी।

यह फोटो सदा से इसी जगह रखा हुआ था। यह विश्वमोहन के विवाह से पहले का फोटो था। उस दिन नहाने जाने के पहले वह स्वयं ही चश्मा और हाथ-घड़ी को खोलकर वहां छोड़ गया था। फिर किसी ने उसे हाथ नहीं लगाया था।

उस दिन से लेकर आज तक डवल वेड पर भी कोई सोया नहीं था। उस दिन के वाद उस पर श्रावणी भी कभी नहीं सोयी थी। पर इसके वदले क्या ज़मीन पर विस्तर लगाने की कठोर साधना उसने अपनायी थी ? नहीं। उसने ऐसा भी नहीं किया था। टायफायड के रोग से वुद्धिहीन भाई की वहन होने पर भी श्रावणी में वुद्धि थी, रुचि थी। इसीलिए दुःख या

—वहू ! वाहर से लोकमोहन ने पुकारा ।

वेटे के सोने के कमरे में वे कभी भी नहीं गए थे । आज भी नहीं आए । श्रावणी जल्दी से सिर पर आंचल डालकर वाहर निकल आयी ।

—फोटो देखे ?

—हां ।

—सुनकर खुशी हुई । इनमें से किसी को बुलावा दे सकता हूं ?

—वावूजी ! श्रावणी के स्वर में मानो आर्तनाद था ।

—वोलो ।

—वावूजी, हम लोग तो अच्छे ही हैं ।

—इसका जवाव तो मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूं, वहू ! स्थिर स्वर में लोकमोहन वोले—और उसका उत्तर भी तुम जानती हो ।

— वावूजी, जो असंभव है, अनावश्यक है, उसे लेकर आप क्यों इतने परेशान हैं ?

—असंभव है या संभव, आवश्यक है या अनावश्यक—इसकी आलोचना रहने दो, वहू । तुम कह रही हो, हम ठीक हैं । मैं कहता हूं—मैं ठीक नहीं हूं । तुम्हें फिर से जीवन में प्रतिष्ठित किए विना मेरे ठीक रहने का कोई सवाल ही नहीं । मेरा विवेक प्रतिदिन मुझे चावुक मारता है ।

—मुझसे नहीं होगा, वावूजी । आप मुझे माफ करें । सिर नीचा करके धीरे से श्रावणी वोली ।

लोकमोहन इस नतमुखी की ओर देखते रहे । लम्वा छरहरा वदन, अच्छा स्वास्थ्य । शोक और आहार की कमी से लावण्य में कोई कमी नहीं आयी थी । अगर श्रावणी शांत स्वभाव की नहीं होती तो यौवन की दीप्ति से वह उद्दण्ड ही दीखती । थोड़ी देर चुप रहकर लोकमोहन वोले—अभी तुम्हें लग रहा है ऐसा नहीं कर सकोगी । पर मैं कहता हूं इसमें नहीं कर पाने का कुछ है ही नहीं । वाद में शायद तुम मेरी वात समझ सकोगी । खैर, ठीक है, तुम थोड़ा समय और ले सकती हो । पर मेरी भी उम्र पूरी हो चुकी है और मैं समय रहते-रहते अपना कर्तव्य पूरा करना चाहता हूं ।

श्रावणी आज प्रगल्भा ही वन गयी । मुंह ऊंचा कर वोली—इसे आप अपना कर्तव्य कैसे मानते हैं, वावूजी ?

—यह प्रश्न मुझसे नहीं करो तो अच्छा होगा। इसे तुम मेरी एक इच्छा ही समझ लो।

श्रावणी ने एक वार लोकमोहन की तरफ देखा। लोकमोहन उम्र ढलने की वात कर तो रहे थे पर उनके शरीर पर उम्र की छाप थी कहां? फुल पैण्ट-वुशर्ट में थोड़े वड़े दीखते थे पर घर पर जव पाजामा-कुर्त्ता पहन लेते, विलकुल ताजे दीखते। स्नेह में विगलित पुत्र-शोकातुर किसी वृद्ध का चेहरा तो लोकमोहन का नहीं था। तव फिर ऐसे नासमझ अजीव संकल्प पर वे इस तरह क्यों अड़े थे?

न जाने श्रावणी के मन में क्या आया। वोली—आपको क्या मुझ पर भरोसा नहीं रहा, वावूजी? मेरे व्यवहार में कोई अशोभन वात हो गयी? आप मुझे वता दीजिए कि मुझे किस तरह चलना चाहिए। साड़ी और ये जो थोड़े से गहने हैं, मैं इन्हें भी उतार दूं? वदले में विना किनारे की सफेद धोती वांध लूं?

—छि:, वहू! लोकमोहन की वुलन्द आवाज़ के आगे श्रावणी चुप हो गयी।

—तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं, वहू? अगर मैं यह कहूं कि मैं तुम्हें विधवा पुत्र-वधू न मानकर एक वयस्क कुंवारी कन्या समझता हूं तो क्या यह विश्वास करना तुम्हारे लिए इतना कठिन होगा?

इस वात का जवाव श्रावणी क्या दे सकती थी? उसका गला रुंध गया। शर्म से सिर झुक गया। इस स्नेह को वह सन्देह की दृष्टि से देख रही थी।

लोकमोहन वोले—तुम कुछ दिन का और समय ले सकती हो। अपने मन को तैयार करो। ज़माने से चले आ रहे संस्कारों को उखाड़ फेंकने में समय तो लगेगा ही। इतना कहकर लोकमोहन वापस जा ही रहे थे कि श्रावणी अस्पष्ट स्वर में वोली—लेकिन वावूजी! मां?

—मां? सास के लिए कह रही हो? उन्हें दुःख होगा, यही कहना चाहती हो न?

—केवल दुःख ही नहीं, इस घटना से तो मां मर ही जाएंगी।

—मर जाएंगी? लोकमोहन थोड़ा हंसे, फिर वोले—मन के कष्ट से

कभी किसी को मैंने मरते हुए नहीं सुना है, बहू। अगर ऐसी बात होती तो वह उसी दिन मर जाती। उसके लिए मैं और नहीं सोचता।

अनुसूया के दु:ख और मनोवेदना को अगर लोकमोहन ही इस तरह से अनदेखी कर दें तो उसके लिए सोचेगा भी कौन ? उसके दु:ख में संवेदना प्रकट करने वाला भी कोई नहीं, उल्टे उसकी मानसिक यातनाओं को उभारने के लिए अनादि हमेशा तैयार रहता है।

अनादि शोक की प्रतिमूर्ति बना अनुसूया के सिरहाने बैठा था। सारी बातें वह पहले ही सुना चुका था। ताज्जुब तो यह था कि घर में कब कहां क्या बातचीत होती थी—अनादि न जाने कैसे मालूम कर लेता था ? अनादि के मुख से सारी बातें सुनकर अनुसूया थोड़ी देर तक तो चुप पड़ी रही, फिर मौन तोड़कर बोली—उन्हें तो इस कमरे में झांकने का भी समय नहीं मिल पाता। मुझे बुलाने में भी रुचि नहीं, फिर भी अपने मामा को एक बार जरा बुला ला, अनादि !

अनादि शोक की भूमिका छोड़कर चौंककर बोला—मैं नहीं बुला सकता, मामी। आप किसी नौकर-चाकर से मामाजी को बुलवा लीजिए।

—ठीक है। कहकर अनुसूया करवट बदलकर सो गयी। इसी समय श्रावणी दूध का गिलास हाथ में लेकर कमरे में आयी।

अनादि तुरन्त बोला—आप भी भाभी गजब करती हैं। दिन-रात खटती रहती हैं। कुछ हुक्म तो हम लोगों पर भी कीजिए।

—इसमें मेहनत ही क्या है। श्रावणी बोली—मां, दूध पी लीजिए।

अचानक अनुसूया बिस्तर पर उठ बैठी। तीखे स्वर में बोली—दूध को जाकर नाली में डाल आओ। आगे से कभी दूध लेकर मेरे कमरे में कभी मत आना, बहू।

सुनकर श्रावणी दु:खी नहीं हुई, अपमानित नहीं हुई। थोड़ा हंसकर बोली—मैंने क्या किया है, मांजी ?

—पूछने में तुम्हें शर्म भी नहीं आ रही ?

श्रावणी नम्र स्वर में ही बोली—शर्म क्यों होगी, मां ? शर्म के लिए भी तो कोई कारण चाहिए

—ठीक कहती हो। अनुसूया चील की भांति चीख उठी। बोली—तू एक विधवा औरत। पराए आदमियों के फोटो का बंडल कमरे में फैलाकर अपने लिए वर ढूंढने में तुम्हारे लिए कोई शर्म की बात नहीं, यह मैं जानती हूं पर हम लोगों की शिक्षा, रुचि और संस्कार कुछ अलग हैं। इतना कहकर अनुसूया धम् से विस्तर पर फिर लुढ़क गयी। अनादि बोल उठा—मामी; आप खामखा उत्तेजित होती हैं। संसार में जो कुछ हो रहा है, होने दीजिए। आप क्यों कष्ट पाती हैं? यह कहकर अनादि ने उठकर पंखे की गति तेज कर दी। उसकी पीठ पीछे तकिया भी लगा दिया।

दूध का गिलास टेबल पर रखकर श्रावणी अनादि से बोली—हो सके तो यह दूध इन्हें पिलाने की कोशिश कीजिएगा। बहुत देर हुई, इन्होंने कुछ खाया नहीं है। और···

अनादि ने कौतूहल से पूछा—और क्या, भाभी?

—कोई खास बात नहीं। पर अगर सच में आप अपनी मामी को व्यर्थ की चिन्ताओं से बचाना चाहते हैं तो घर की फालतू बातों को उनके कानों में मत डालिए।

श्रावणी अपने कमरे में लौट आयी—विश्वमोहन की छांह में। बहुत देर तक चुपचाप बैठने के बाद मन ही मन बड़बड़ायी—सच में ही क्या मैं इस जीवन में अच्छी हूं?

लोकमोहन अकेले ही अपने कमरे में चहल-कदमी कर रहे थे। कमरे में अंधेरा था। लोकमोहन कमरे में थे और उस कमरे की बत्ती बुझी हुई थी, ऐसा दृश्य पहले कभी किसी ने नहीं देखा था। विश्वमोहन की मृत्यु के बाद भी यह दृश्य किसी ने नहीं देखा था। वे हमेशा ही तेज बत्ती के आगे काम-काज की फाइलों के बीच डूबे रहते। पर आज रोशनी उनकी आंखों में चुभ रही थी।

उन्होंने श्रावणी से आज कहा था—विवेक मुझे चैन से बैठने नहीं दे रहा है। यह केवल उनके मुंह की बात नहीं थी। सच में ही उनका विवेक प्रतिदिन उन्हें क्षत-विक्षत कर रहा था। विश्वमोहन को इतना हाई ब्लडप्रेशर था, क्या यह बात उनको मालूम नहीं थी? डाक्टर ने भी इतनी जल्दी उसकी शादी के लिए मनाही की थी पर फिर भी लोकमोहन ही

श्रावणी को वहू वनाने के लोभ को नहीं संभाल पाए थे। उसी लोभ के कारण नासमझी दिखाकर उन्होंने वेटे की शादी की इतनी वड़ी जिम्मेदारी ले ली थी।

श्रावणी के मां-वाप कोई नहीं थे। वड़ा एक था—भाई। वह भी अमानुप। उसकी वड़ी वहन और जीजा ने गांव से उसे वुलाकर कलकत्ता के कॉलेज में भरती कर दिया और रहने की व्यवस्था होस्टल में कर दी थी। स्कूल से कॉलेज तक की पढ़ाई श्रावणी ने होस्टल में ही रहकर की थी।

पता नहीं इस सुन्दर सुगठित नवयौवना श्रावणी को लोकमोहन ने कहां और किस तरह से पहली वार देखा पर उसी क्षण वे अपने पुत्र के लिए उसका निर्वाचन कर वैठे थे। श्रावणी तव तक वी० ए० की परीक्षा दे चुकी थी। होस्टल छोड़कर भैया-भाभी के घर लौट जाने वाली थी। एक वार दूर चली जाने से क्या मालूम कहां से कैसी वाधा आ जाए। इस-लिए अनुसूया ने भी उस समय वड़ा आग्रह दिखाया था। वोली थी—कव मर जाऊं क्या ठिकाना ? मुन्ने की शादी तो देख लूं।

एक न एक दिन तो सभी मरते हैं पर किस दिन कौन मरेगा यह कौन जान सकता है ? कितनी असहायता है ? डाक्टर का निषेध लोकमोहन ने हंसकर उड़ा दिया था। वोले—व्लड प्रेशर एक वीमारी हो सकती है पर यह कोई व्याधि तो नहीं। वोलो डाक्टर, तुम्हारे शास्त्र में इस विवाह में कोई हर्ज वताया गया है क्या ? डाक्टर साफ-साफ 'ना' तो कैसे कर सकते थे ? टी० वी० नहीं, कोढ़ नहीं, कैंसर नहीं, शायद लोकमोहन ठीक ही कहते थे कि इस रोग को व्याधि तो नहीं कहा जा सकता था। फिर देर किस वात की थी ? वड़ी धूमधाम से विश्वमोहन का विवाह हो गया। आज लोकमोहन को डाक्टर की उस वात की याद वार-वार आ रही थी। उन्होंने कहा था—कुछ दिन और वीत जाने दो।

उस दिन की यही वात रह-रहकर उन्हें याद आ रही थी जिस दिन विश्वमोहन अनायास ही चल वसा था। उस दिन श्रावणी के मूर्च्छातुर शरीर को देखकर लोकमोहन एक प्रतिज्ञा कर वैठे थे। वह प्रतिज्ञा किस वात की थी—आज श्रावणी अच्छी तरह समझ चुकी थी।

लोकमोहन के कमरे में अंधेरा था और उस अंधेरे कमरे में मेज़ पर

फ़ोटो से भरा वह लिफाफा भी पड़ा हुआ था जिसे लोकमोहन ने श्रावणी के निर्वाचन के लिए भेजा था। लिफाफे के साथ एक पर्चा भी था—बाबूजी, मुझे क्षमा कीजिए।

वही एक बात—क्षमा कीजिए।

श्रावणी को माफ करने पर फिर लोकमोहन अपने को कैसे माफ करेंगे ? डाक्टर ने सान्त्वना के तौर पर कहा था—विवाह कोई कारण नहीं है, मि० गुप्ता। होनी को कौन टाल सकता है। लोकमोहन बोले थे—इस बात से मुझे कोई सान्त्वना नहीं मिल रही, डाक्टर। यह विवाह अगर नहीं होता तो एक और प्राणी की भी मृत्यु तो नहीं होती। पर मैं उसे मरने नहीं दूंगा। मेरा संकल्प अटूट है।

अपनों की तरह होने पर भी अपने नहीं। ऐसी स्थिति में डाक्टर और क्या कह सकते थे। चुप रहे। लोकमोहन स्वयं ही बोले—हम समाज और संस्कार के बन्धनों से जकड़े लोग कह सकते हैं कि फिर कैसा विवाह ? मैं उसे अध्यात्म की राह दिखाकर चुप बैठ सकता हूं या उसे उपार्जन का कोई तरीका बता सकता हूं। पर एक जीवन केवल इसी के बल पर नहीं कट सकता। तुम तो डाक्टर हो। तुमने तो उसे देखा है। तुम्हीं कहो उसके मातृत्व की संभावना को···

—मैं समझता हूं, मि० गुप्ता ! पर आप जैसा हृदय कितनों का है ?

—बहुत बड़ा हृदय तो मेरा भी नहीं है, डाक्टर। बहुत ही छोटा, जो ममता से पिघलता है—अनुताप से अभिभूत होता है—चिन्ताओं से कातर होता है। इसे छोटा ही तो कहोगे, डाक्टर।

डाक्टर संकोच से बोले—आपको राय देना मुझे शोभता नहीं पर अपनी डाक्टरी बुद्धि से ही कहता हूं कि किसी बड़ी बात पर इतनी जल्दी कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। मन को समझने में समय लगता है।

—लड़का ढूंढने में भी तो समय लगता है, डाक्टर !

—लेकिन मिसेज गुप्ता को शायद फिर···

—बचाया नहीं जा सकेगा। यही कहना चाहते हो न, डाक्टर ? पर मैं तुमसे पूछता हूं, जीवन-मरण के लिए सच में ही तुम लोग कुछ करते

सकते हो ? बता सकते हो कि घर में यदि वास्तव में ही ऐसी घटना घटी कि मैं श्रावणी का विवाह कर दूं तो मिसेज़ गुप्ता ज़हर खाकर या गले में फंदा डालने से नहीं, केवल मानसिक कष्ट से मर जाएंगी। बोलो, डाक्टर ! जवाब दो।

डाक्टर सिर झुकाकर चुपचाप खड़े रहे।

लोकमोहन डाक्टर के करीब आकर फिर बोले—और इस बात की गारंटी दे सकोगे कि तमाम दुनिया अगर उनकी बातों पर चले, सब कुछ उनके मनोनुकूल हो तो मिसेज गुप्ता चिरकाल ज़िन्दा रह जाएंगी ? इसका कोई जवाब दिया नहीं जाता। इसलिए डाक्टर चुप ही रहे। लोकमोहन बोलते गए—जरूरत पड़ी तो मैं सारी दुनिया के साथ लड़ूंगा, चाहे जितना भी खर्च लगे। विश्वमोहन की जगह उस नवागत को प्रतिष्ठित करके ही रहूंगा। पर जिस हथियार के बल पर लोकमोहन सारी दुनिया से लड़ने की तैयारी कर रहे थे, श्रावणी वहीं उनका साथ नहीं दे रही थी। चहल-कदमी करते-करते लोकमोहन एक नए निष्कर्ष पर आ पहुंचे। उन्होंने सोचा, उनका तरीका ही गलत था। निर्वाचन का भार उन्हें श्रावणी पर नहीं छोड़ना चाहिए था। संकोचवश कभी भी वह अपना मत उनके सामने नहीं व्यक्त कर पाएगी। इससे बेहतर तो यही होगा कि लोकमोहन स्वयं ही किसी सुपात्र का निर्वाचन करें और चुपचाप उसे श्रावणी के सामने लाकर खड़ा कर दें। फिर देखा जाएगा। आखिर श्रावणी कब तक बोल सकेगी—मुझे माफ कीजिए, बाबूजी।

लोकमोहन प्रतिदिन नियम से, सुबह केवल नाश्ता कर दफ्तर जाते थे। इस नियम का आज भी व्यतिक्रम नहीं हुआ था। सुबह काम-काज का पहिया थोड़ा तेज चलता ही है। श्रावणी भी व्यस्त ही रहती। उसी व्यस्तता के बीच विष्टु आकर बोला—भाभीजी, अनादि बाबू बोल रहे हैं कि बाहर आपके भाई साहब आए हुए हैं।

—बाहर ? हाथ का काम छोड़कर श्रावणी बोली—बाहर क्यों, विष्टु ?

—वे कह रहे हैं मकान के अन्दर नहीं आएंगे।

—किससे कहा है ? बाबूजी से ?

हिन्दू नारी होकर भी जो···खैर, मेरा भी गुस्सा मशहूर है। फिर एकाएक सबों की सभी वातें अचानक वन्द हो गयीं। लोकमोहन की आवाज ने कोलाहल को खामोश वना दिया। वे पुकार रहे थे, नत्थूसिंह, गाड़ी लाओ!

अनादि लोकमोहन को देखते ही चौंक उठा।

लोकमोहन ने पूछा—यहां किस वात की भीड़ है?

अनादि विनय का अवतार वनकर दौड़ा आया और वोला—ये संजय वावू हैं—भाभीजी के वड़े भाई साहव।

—भाभी के? ओहो, वहू का भाई? खैर, इनके चरणों की धूल अंत तक पड़ ही गयी इस घर पर। लेकिन सड़क पर खड़े-खड़े कैसी खातिर की जा रही है इनकी?

—अभी-अभी तो ये आए ही हैं, मामाजी। अनादि थोड़ी धीमी आवाज़ में वोला—थोड़े जिद्दी आदमी हैं। कह रहे हैं वहनोई तो हैं नहीं, सूने घर में नहीं घुसूंगा। यहीं से वहन से भेंट करके विदा हो जाऊंगा।

—चुप रहो! वेवकूफ की तरह वातें मत करो। फिर विष्टु से वोले—जा, इन्हें अन्दर ले जा। और खयाल रखना वहनोई के अभाव में इनकी खातिर कुछ कम नहीं होने पाए।

आश्चर्य की वात थी। विष्टु को कुछ कहना भी नहीं पड़ा। विख्यात क्रोधी संजय सेन चुपचाप स्वयं ही विष्टु के पीछे-पीछे मकान के अन्दर आ पहुंचे।

अनादि भी क्या करता। पीछे-पीछे आया। लोकमोहन एक व्यंग्य भरी दृष्टि दौड़ाकर गाड़ी पर वैठ गए।

नहा-धोकर राजसी नाश्ते के सामने वैठकर संजय सेन वहन से वोले—इतनी देर के वाद तुम्हें आने का समय मिला?

श्रावणी वुझी-वुझी आवाज़ में वोली—यह वात तो मैं भी पूछ सकती हूं, भैया। तुम्हें भी इतने दिनों के वाद मेरी याद आयी?

सोचा था—विलकुल अविचलित रहेगी। समझने भी नहीं देगी कि कहीं परिवर्तन हुआ भी है—पर श्रावणी का निश्चय भाई के सामने टूट गया। गला कांप गया। शादी के वाद ससुराल आने के वाद आज ही भाई से भेंट हुई थी। दुःख भरी खवर वहां भी भेजी गयी थी। उसके जवाव में

भी संजय सेन नहीं आया था। उसकी बस चिट्ठी आयी थी—खबर पाकर विमूढ़ हो गया हूं। दुनिया में क्या भगवान कहीं नहीं है आदि-आदि। बहन के प्रश्न पर संजय सेन थोड़ा घबरा गया। अप्रतिभ होकर बोला—उस समय की बात कर रही हो? हां, मानता हूं कि खबर पाकर आना चाहिए था पर जानती हो, मन में बड़ी चोट पहुंची थी। सोचा, तेरा अभागा चेहरा देखना पड़ेगा। खैर, तूने तो वह सब-कुछ किया नहीं। मरने दे। आजकल शहरों का रंग-ढंग भी कुछ ऐसा ही है। लेकिन···फिर मिठाई का एक बड़ा-सा टुकड़ा मुंह में रखकर बोला—तेरा देवर तो एक [illegible] बात सुना रहा था। मुझे तो विश्वास नहीं हुआ। वह जरूर झूठ बोल रहा होगा।

ऐसे भाई के सामने अब श्रावणी अपने आपको और कमजोर नहीं करेगी। स्वाभाविक स्वर में हंसकर बोली—ऐसा भी क्या कह रहा था कि तुम्हें विश्वास ही नहीं हो रहा है।

—कोई ऐसी-वैसी बात है क्या? उच्चारण करने से भी पाप होता है। मैंने भी उससे कहा—साड़ी-गहने पहनती है तो पहले [illegible] बाबू, मैं तुम्हारी बात नहीं मान सकता।

श्रावणी समझ गयी बात क्या थी? फिर भी अनजान बनकर बोली—उच्चारण करने पर भी यदि महापाप होता है तो रहने ही दो भैया। मैं सुनना नहीं चाहती। तुम आराम से खाओ।

—आहा! मैं तो खा ही रहा हूं। तुझे कहने की जरूरत भी नहीं। हालांकि एक बार तो सोचा था कि इस पाप के [illegible] में पैर भी नहीं रखूंगा। पर समधि का अनुरोध टालना भी तो मुश्किल है।

—अनुरोध? बाबूजी ने तुम्हें आने के लिए अनुरोध किया था?

—और नहीं तो क्या मैं ऐसे थोड़े ही आता। मुझे [illegible] पर तेरे देवर को अच्छी तरह से डांटा भी। इसलिए मैं [illegible]—दो। चलकर अन्दर ही बैठता हूं।

—और कुछ दूं, भैया?

—नहीं। और तो कुछ नहीं चाहिए। [illegible] बात सच है?

—आखिर तुम किस बात के लिए इतने परेशान हो, मैं तो यही नहीं समझ पा रही हूं ?

—तू मांस वगैरह सब-कुछ खाती है ?

—हद कर दी भैया तुमने। इतनी-सी मामूली बात के लिए इतना कष्ट पा रहे हो। हां, खाती तो हूं।

—खाती हो ?

—इसके लिए तुम क्यों इतने विचलित हो रहे हो, भैया ?

—विचलित नहीं होऊंगा ? स्थिर रह भी कैसे सकता हूं ? श्रीखण्ड के वैद्य ब्राह्मण हैं हम लोग। दादाजी ब्राह्मणों को भी दीक्षा देते थे और तू ? छिः-छिः, तेरी यह वृत्ति !

—मैं ऐसी ही हूं। श्रीखण्ड के वैद्य वंश से मेरा नाम कट गया और क्या ?

संजय सेन उठ पड़े। खाना तो पूरा ही खा चुके थे। फिर भी बोले—फिर तो मैं इस घर का अन्न भी ग्रहण नहीं कर सकता। मुझे तो शक हो रहा है कि तेरा देवर ठीक ही बता रहा है। तेरा म्लेच्छ ससुर···खैर, छोड़ भी इन बातों को। मैं तो तुझसे विनती ही कर सकता हूं शावी कि इन निषिद्ध चीज़ों को मत खा।

—मैं तुम्हें वचन तो नहीं दे सकती, भैया—क्योंकि तुम्हारे उस श्रीखण्ड के विशुद्धाचार की अपेक्षा मेरे लिए मनुष्य की कीमत अधिक है।

—मनुष्य की कीमत ? यह कैसी अजीब बात है ?

—है कुछ अजीब ही। पर दोपहर को बिना खाए मत जाना। और मेरी सास भी बीमार हैं। तुम्हें उनसे भी मिलना चाहिए।

—जरूर मिलूंगा। तुम्हें कहने की जरूरत नहीं। उनसे भेंट करना तो मेरा कर्तव्य है। एक तो पुत्र-शोक, उस पर से बेचारी बीमार। कहां हैं वे ? चल, अभी मिलता हूं।

—किसी नौकर को साथ लेकर चले जाओ, भैया। रतनलाल, इन्हें माताजी के पास ले जाओ।

असीम क्लान्ति से श्रावणी की समस्त इंद्रियां मानो थक-सी गयी थीं। श्रावणी के रिश्तेदार इतने सस्ते और हल्के स्वभाव के क्यों ?

श्रावणी के साथ उसकी आत्मा का मानो कोई योग नहीं।

वड़ी दीदी उस दिन खवर पाकर ऐसे ही रोती-चिल्लाती आयी थी। लोकमोहन ने उसे यह कहकर लौटा दिया था कि घर जाकर पहले अपने को शांत कर आइए, तभी आप अपनी छोटी वहन को सान्त्वना दे सकेंगी। इस समय तो श्रावणी से भेंट नहीं हो सकती।

दीदी अपमानित होकर वाहर से ही लौट गयी थी। उस दिन से उसने छोटी वहन की कभी कोई खवर नहीं ली।

श्रावणी निःसंग, अकेली, अपने में ही सिमटकर रह गयी थी। पर वह तो हमेशा से ही ऐसी थी। मां विस्मृति के दिनों में ही चल वसी थी। वस वीच के सिर्फ कुछ दिन—एक आवेश, विह्वलता के थे, मानो वह सव एक स्वप्न था। विश्वमोहन की श्रावणी मानो कोई और ही श्रावणी थी।

अनुसूया अपने जीर्ण हाथों से वेटे के वड़े साले का हाथ पकड़कर गिड़गिड़ाकर वोली—मैं तुमसे विनती कर रही हूं वेटा, तुम उसे समझा-वुझाकर ले जाओ। दुःख और शोक से इनका तो दिमाग खराव हो गया है। जो जी में आता है, वकते रहते हैं। तुम्हारी वहन भी ससुर के डर से कुछ कह नहीं पाती। ससुर को मानती भी खूब है। इसीलिए तो कह रही हूं उनकी वात टाल नहीं सकने के कारण ही यह अनाचार कर रही है। अव न जाने और क्या घट जाए। तुम्हीं कहो, वेटा! मां होकर मैं वैठी-वैठी यह सव कैसे देख सकती हूं? सह सकती हूं? भगवान ने जो दुःख दिया है उस पर तो किसी का वस नहीं। छाती पर पत्थर वांधकर वैठी हूं। इस शोक के वाद भी यदि मुर्दे पर लोग फिर वार करें तो···वोलते-वोलते अनुसूया रो पड़ी।

संजय सेन ने भी धोती के छोर से अपनी आंखें पोंछ लीं। उस समय विष्टु किसी काम से कमरे में आया। अनुसूया रोना भूलकर विष्टु से वोली—विष्टु, वहू से जाकर वोल उनका भाई उन्हें लेने के लिए आया है। और मैं कह रही हूं कि उन्हें वापस लौटा देने पर उन्हें दुःख होगा। कुछ दिन के लिए वहू वहां घूम ही आए।

कुछ ही मिनटों में विष्टु वापस आकर वोला—तुम्हारी वहू रानी मानी कहलाती हैं, मांजी। भाभी जी मुझ पर नाराज हुईं।

—नाराज हुई ? क्या बोल रही है वह ? संजय सेन ने पूछा।

—भाभी जी बोलीं—विष्टु, तुम जाकर अपना काम करो।

—देख रहे हो न बेटा कैसी पत्थर है तुम्हारी बहन! फिर भी तुम्हारे आगे मैं हाथ जोड़ती हूं तुम इस घर से उसे ले जाओ। नहीं तो कितना बड़ा सर्वनाश होगा मैं सोच भी नहीं सकती। विष्टु, तू बहू को एक बार मेरे पास बुला ला।

थोड़ी देर में श्रावणी आयी।

—मां, आपने मुझे बुलाया है ?

—हां! अनुसूया तीखे स्वर में बोली—तुम्हारे भाई तुम्हें लेने के लिए आए हैं। उन्हें निराश करना उचित नहीं होगा। थोड़े दिनों के लिए घूम आओ।

—ठीक है, बाबूजी के दफ्तर से लौटने के बाद उनसे पूछूंगी। अगर उन्होंने आदेश दिया तो चली जाऊंगी।

—चुप रहो, बहू! मुझे तुम दिमागी तरकीब सुझाने आयी हो ? तुम्हारे ससुर तुम्हें जाने के लिए कहेंगे तभी जाओगी ?

श्रावणी चुप रही।

—क्यों ? मैं इस घर की कोई नहीं ? मैं कह रही हूं संजय के साथ जाना तुम्हारा कर्तव्य है इसलिए तुम जाओगी।

—आप बाबूजी के लौटने से पहले ही मुझे जाने के लिए कह रही हैं ?

अब अनुसूया संजय का हाथ छोड़कर करवट बदलकर लेट गयी। बोली—तुमसे बात करना ही मेरी भूल थी, बहू।

—छि: छि: छि:! संजय सेन धिक्कार उठे—तेरी भी क्या अक्ल मारी गयी है, शावी ? रोग और शोक से संतप्त महिला और तू उनसे इस तरह का···?

—मैं किसी भी तरह से किसी को कुछ नहीं कहना चाहती, भैया। तुम लोग ही मेरी सभी बातों का गलत अर्थ लगा रहे हो। चलो, खाने का समय हो चुका है। कहकर श्रावणी चली गयी। संजय भी उठने लगा। जाते-जाते बोला—असल में जानती हैं—मेरी बहन पढ़ने के सिलसिले

में हमेशा घर से वाहर रही इसलिए उसका रंग-ढंग वदल गया है। नहीं तो हमारे खानदान की लड़की होकर···क्या करूं, मैं खुद तो ग्रेजुएट नहीं वन सका। अव तो इन लोगों की वातचीत का अर्थ भी नहीं समझ सकता।

—इसका मतलव हार मान गए, वेटे ? कड़वा घूंट पीकर अनुसूया ने पूछ ही डाला।

संजय सेन सिर झटककर वोला—अव तो कोई निश्चित फैसला कराके ही यहां से हिलूंगा। श्रीखण्ड के सेन वंश की लड़की को गलत राह पर इतनी आसानी से जाने नहीं दूंगा।

पर संजय की वात पर अव अनुसूया का कोई भरोसा नहीं था। श्रावणी को वह भली भांति पहचानती थी और उसके स्वभाव से समझौता नहीं कर पा रही थी। यही तो उसका दुःख था। विश्वमोहन नहीं रहा था और उसकी पत्नी सारे अंग में यौवन की आग लहराकर सवके सामने चारों तरफ इस तरह घूम-फिर रही थी—और अनुसूया को रुग्ण असहाय दृष्टि से विस्तर में पड़े-पड़े यह सव देखना पड़ रहा था—हे भगवान्, मुझे मौत भी क्यों नहीं आती ?

श्रीखण्ड के सेन वंश के संजय सेन को आखिरकार हार मानकर वापस लौटना ही पड़ा। लोकमोहन ने सुनते ही 'ना' कर दिया था। वोले—इस समय वह कहां जायेगी ? उसके लिए लड़का ढूंढ़ रहा हूं। शुभ काम सम्पन्न होने के वाद जोड़ी को साथ ही ले जाइएगा।

संजय सेन मन-ही-मन वीसियों गाली वककर मुंह से वोले—रिश्ते में आप वड़े हैं। कहने के लिए और वाकी रहा ही क्या ? चलता हूं। नमस्ते।

इसके दूसरे ही दिन लोकमोहन श्रावणी से वोले—एक लड़का है, मान लो मेरे किसी दोस्त का ही लड़का है, वाहर से वदली होकर कलकत्ता आया है। उसे रहने के लिए जगह की वड़ी दिक्कत हो रही है। उसे थोड़ी-सी जगह यहां दी जा सकती है ?

श्रावणी शंका की नज़र से देख रही थी। उसके मन में प्रश्न उठ रहा था—यह कैसी वात है ? ऐसा प्रश्न आखिर उससे पूछा क्यों जा रहा है ?

फिर नम्र स्वर में बोली—इसके लिए आप मुझसे क्यों पूछ रहे हैं, बाबूजी ?

—ताज्जुब है ! तुमसे नहीं पूछूंगा तो और किससे पूछूंगा जब घर की मूल गृहिणी से पूछना व्यर्थ है ?

—ठीक किस तरह से रहेंगे ? मैं कुछ समझी नहीं।

—और कैसे रहेंगे ? घर के लड़के की तरह ही रहेंगे। जिस तरह अनादि यहां है उसी तरह। लेकिन हां, वह ऐसे ही नहीं रहेगा। पेइंग गेस्ट बनकर रहेगा।

घर के लड़के जैसा—सुनकर श्रावणी एक बार तो सिहर उठी थी। लेकिन अनादि के उदाहरण से फिर सहज हो उठी। पूछा—पेइंग गेस्ट ?

—क्यों, कोई असुविधा होगी ? अगर असुविधा हो तो उसे मना कर दूंगा।

—मुझे किस बात की असुविधा होगी, बाबू जी ? दृढ़ स्वर में श्रावणी बोली—घर में नौकर-चाकर हैं, अनादि बाबू हैं, बाहर एक और अतिथि रहेंगे—उसमें मुझे क्या दिक्कत होगी ?

—बिलकुल बाहर के अतिथि के रूप में ही रखना था तो तुमसे इसकी चर्चा करने की जरूरत ही नहीं थी, बहू। मैंने कहा न कि मानना पड़ेगा कि वह मेरे किसी दोस्त का लड़का है, उसे यदि एक पारिवारिक वातावरण नहीं दिया जा सके तो···लोकमोहन चुप हो गए। एक ही साथ इससे अधिक कहना शायद ठीक नहीं। श्रावणी बोली—मुझसे जितना हो सकेगा, देखभाल करूंगी, बाबू जी। आप निश्चिन्त रहिए। सिर्फ···

—सिर्फ क्या ? लोकमोहन ने पूछा।

—मैं जानना चाहूंगी कि उसके रहने की व्यवस्था किस क़मरे में की जाएगी ?

—सब-कुछ तुम्हारे हाथों में है, बहू। क्या व्यवस्था करोगी, यह तुम ही ठीक समझ सकती हो। मैं क्या राय दूं ? तुम्हीं समझ सकती हो कि तुमको किसमें सुविधा होगी।

'जी' कहकर प्रसंग को वहीं समाप्त कर श्रावणी चली गयी।

और श्रावणी के जाते ही लोकमोहन लेटर-पैड निकालकर चिट्ठी

लिखने बैठ गए। चिट्ठी लिखकर उसे लिफाफे में डालकर पता लिखकर तुरन्त नौकर को बुलाकर उसे पोस्ट करने के लिए कह दिया। लड़के का नाम भी बड़ा सुन्दर था। अकसर सुनने में नहीं आता—'चन्द्रपीड़'। यह नाम लोकमोहन ने इससे पहले कभी नहीं सुना था।

इस बार लोकमोहन ने एक सुन्दर, स्वस्थ, धनी विधवा के लिए विज्ञापन नहीं दिया था। इस बार विज्ञापन इस प्रकार था—

'चाहिए—एक पेइंग गेस्ट। सम्भ्रान्त परिवार में आरामदायक कमरा, उत्तम व्यवस्था, पारिवारिक वातावरण। शिक्षित, सुरुचि-सम्पन्न सभ्रान्त युवक के आवेदन-पत्र पर विचार किया जाएगा।'

जवाब में कई आवेदन-पत्र आए थे। उनमें से लोकमोहन ने एक ही व्यक्ति का निर्वाचन किया था।

युवक का नाम था—चन्द्रपीड़। जापान से खिलौने बनाने की कला में ट्रेनिंग लेकर हाल ही में भारत लौटा था। उसे एक भद्र घर में आश्रय की जरूरत भी थी जहां रहकर खिलौने बनाने के एक कारखाने को खोलने की योजना बना सके। लोकमोहन ने सोचा—सुशिक्षित, संभ्रान्त परिवार का लड़का तो होगा ही। और फिर लोकमोहन अपनी आंखों से उसे देख-समझकर उसका अनुमान लगा ही लेंगे।

'मान लेना पड़ेगा कि मेरे किसी दोस्त का लड़का है'—यह बात बार-बार श्रावणी के मन पर धक्का मार रही थी। मान लेना होगा, इसका क्या अर्थ? या तो वह परिचित था या बिलकुल अपरिचित। इसके अलावा लोकमोहन को पेइंग गेस्ट रखने की ऐसी भी क्या जरूरत पड़ी थी? क्या उन्हें पैसों की वाकई इतनी जरूरत थी? या उनका मन किसी युवा का संग पाने के लिए लालायित था? या इस स्तब्ध पाषाणपुरी में नए प्राणों का स्पन्दन सुनना चाहते थे? या यह सारा कुछ ही उनकी एक नयी चाल थी? या यह और किसी चीज की भूमिका थी?

बार-बार श्रावणी का दिल कांप उठता था। बुक-शेल्फ पर पड़े पति के फोटो पर जाकर उनकी नजर रुक जाती थी। केवल फोटो ही नहीं, उस फोटो के नीचे खुला हुआ चश्मा भी मानो नजर फैलाकर अन्तर्भेदी दृष्टि से श्रावणी को देख रहा था। मन ही मन श्रावणी बोली—इस तरह

से क्या देख रहे हो ? बोलो, क्या दीख रहा है तुम्हें ? कमजोरी ? विश्वास का अभाव ? मुझे तो ऐसा नहीं लग रहा है। विना कारण मुझे कितना दु:ख भोगना पड़ रहा है, देख ही रहे हो ! अब तो अपने मन को चीरकर देखना ही बाकी रह गया है।

चाहे कैसी ही विपत्ति क्यों न आए, श्रावणी घबराएगी नहीं। मन ही मन वह संकल्प कर बैठी।

उधर अनादि जाकर अनुसूया के पास विलख उठा—मामी ! मामी ! मामाजी के कमरे से लगा जो अटैच्ड बाथ वाला कमरा था, जो कमरा बड़े अतिथियों के लिए बन्द करके ही रखा जाता था—आज वह कमरा खोल दिया गया है। मामाजी के किसी दोस्त का लड़का यहां आएगा। खिड़की और दरवाज़ों पर नये पर्दे लगाए गए है। टेवल पर कढ़ाई किया टेवल-क्लॉथ। सिर्फ मेरे हिस्से में सबसे रद्दी कमरा आया है।

अनादि के आक्षेप को अनसुनी कर अनुसूया ने पूछा—दोस्त का लड़का कौन ?

—नहीं जानता, मामी। विलायत या जापान से न जाने क्या पास-वास कर आए हैं साहबजादे। रहने की कोई जगह नहीं थी इसलिए।

—इसलिए मेरा मकान उसके रहने के लिए उचित समझा गया ?

—वही तो देख रहा हूं।

—यह व्यवस्था किसने की है ?

—और कौन कर सकता है ! व्यवस्था मामाजी की ही है। पर कमरा भाभी जचा रही हैं। सुन रहा हूं वह कल ही आ जाएंगे।

—ओ रे अनादि ! अचानक अनुसूया दहाड़ मारकर रो पड़ी। बोली —शोक और दुख में वे पागल वन चुके हैं। तू लोगों को देखकर पहचान भी नहीं सकता। डाक्टर को बुलाकर उन्हें पागलखाने में भिजवा दे नहीं तो किसी दिन सर्वनाश हो जाएगा।

जैसे अभी-अभी कोई बड़ी दुर्घटना हो गयी है, इस तरह अनुसूया रोने लगी।

घर के सारे सदस्य एकाएक चौंक पड़े—क्या हुआ ? नया कौन-सा

दुःख आ पड़ा ?

दरवाज़े पर भीड़ लग गयी। फिर भी अनुसूया चुप नहीं हुई जब तक लोकमोहन ने स्वयं आकर कसकर डांट नहीं लगाई। बैठक से उठकर आए थे। आंखों पर से चश्मा उतारते हुए बोले—यह सब क्या हो रहा है? एक क्षण के लिए अनुसूया चुप हो गयी। फिर करुण कातर स्वर में बोली—बुलाओ अपने डाक्टर को, मुझे थोड़ा जहर लाकर दे, सब यंत्रणाओं से मुझे मुक्ति मिल जाएगी। एक बार अनुसूया की तरफ देखकर लोकमोहन बोले—यंत्रणा अगर किसी की कम होगी तो वह मेरी ही होगी। पर सोचना व्यर्थ है। डाक्टर यंत्रणा से मुक्ति दिलाने के लिए कुछ भी नहीं देगा।

—जानती हूं। जानने को कुछ बाकी भी है? मैं मरूं तो तुम चैन की सांस लो। तुम क्या कम पत्थर हो! मुन्ना चल बसा, फिर भी तुम तो पत्थर के पत्थर रहे।

—इसी बात की याद कर अचानक तुम्हारे चिल्लाने का मन किया था?

—हे भगवान्! कितने निष्ठुर हो तुम?

—यह बात भी तो कोई नई नहीं है। और कुछ कहना चाहती हो तो वह भी कह डालो। मुझे तंग करने के लिए आंसुओं का सहारा लेने की कोशिश मत करना। अनुसूया बिस्तर पर ही उठ बैठी। फिर टूटे स्वर में बोली—दया-ममता की भीख अब तुमसे नहीं मांगूंगी। केवल जानना चाहती हूं, तुम किसे लाकर इस घर में प्रतिष्ठित करना चाहते हो? मन में क्या सोच रखा है तुमने?

—घर में? किसे? ओ! मेरे उस पेईंग गेस्ट के लिए कह रही हो।

—पेईंग गेस्ट? दोस्त का लड़का नहीं? पेईंग गेस्ट आ रहा है?

—हां, उस लड़के से तो इसी तरह की बात हुई है। महीने के महीने वह दो सौ रुपये देगा। बदले में मैं उसे अपने परिवार के बीच रहने दूंगा।

—यह बात है? अनुसूया सिकुड़कर व्यंग्य से बोली—आदमी रखकर तुम रुपया कमाओगे—इस बुढ़ापे में यह तुम मुझे आज समझाने आए हो। मैं तुम्हें क्या नहीं जानती?

—जानती हो क्या? लोकमोहन जोर से हंस पड़े। बोले—तो फिर पूछ ही क्यों रही हो?

—तुम आग से खेलना चाहते हो ?

—हां, यही चाहता हूं। बस, अब चिल्लाने से कोई फायदा नहीं।

—चिल्लाने की बात नहीं है ? अनुसूया हिस्टीरिया के रोगी की भांति गों-गों करने लगी—मेरा मुन्ना चला गया। और तुम किस जहन्नुम से एक अभागे को लाकर घर बैठाओगे ? क्यों ? क्यों ? मैं किसी भी हालत में ऐसा नहीं होने दूंगी। मैं चिल्लाऊंगी, उसे निकाल बाहर करूंगी। अनुसूया तकिए पर सिर पटक-पटककर रोने लगी। अनादि उन्हें संभालते हुए बोला—मामी, चुप रहो। धीरज रखो।

एक क्षण अनादि की तरफ देखकर लोकमोहन बोले—अनादि, कल से तुम मैस में जाकर रहना। हर महीने आकर खर्च ले जाना। उस एक दिन के अलावा महीने के बाकी उनतीस दिन मैं तुम्हें इस मकान में देखना भी नहीं चाहता।

हुक्म देकर लोकमोहन चले गए। अचानक उस हुक्म की चोट से अनुसूया का रोना बन्द हो गया। अनादि हतप्रभ-सा खड़ा रहा। लोकमोहन कभी इस तरह का हुक्म दे भी सकते थे, ऐसी आशंका किसी को नहीं थी।

अनादि तो चिररुग्णा अनुसूया का दाहिना हाथ था। अपना बेटा तो बचपन से ही मां की गोद छोड़कर अपनी बुद्धि की चमक से सफलता के शिखर पर पहुंच चुका था। असफलता की दुनिया में केवल अनादि ही पड़ा रह गया था और अनुसूया का अनुगत सेवक बनकर वह यहां अपने रहने के खूंटे को मजबूत बनाकर रखना चाहता था क्योंकि बिना मेहनत के उत्तम आहार, बढ़िया कपड़े और निश्चिन्त बेकार जीवन का स्वाद वह ले भी कहां सकता था !

उस रात सोने के पहले श्रावणी लोकमोहन के कमरे में टेबल के किनारे आकर सटकर खड़ी हो गयी। लोकमोहन स्थिर गंभीर आवाज़ से बोले—कुछ कहना है !

—बाबूजी !

—बोलो, बेटा ?

—अनादि बाबू के ऊपर से आप अपना हुक्म हटा नहीं सकते ?

—कैसा हुक्म ? अनादि को क्या हुआ ? विस्मय से लोकमोहन ने

पूछा। अपना दिया हुक्म वे स्वयं भूल गए थे। वास्तव में अनादि जैसे लोगों की बात अधिक देर तक याद रखने लायक सस्ता उनका मन था ही नहीं।

श्रावणी बोली—अनादि बाबू अपना सामान लेकर यहां से जा रहे हैं।

—जा रहा है? सुबह की घटना एकाएक उन्हें याद आ गयी। बोले—जा रहा है तो क्या हुआ?

—नहीं, बाबूजी! उनके अभाव में मां को बड़ा कष्ट होगा।

लोकमोहन एक खिन्न-सी हंसी हंसकर बोले—अनादि के चले जाने से हो सकता है तुम्हारी सास को थोड़ी असुविधा जरूर हो पर उसके चले जाने पर वह स्वस्थ हो जाएगी—नहीं, लेकिन तुम निश्चिन्त रहो, वह कहीं नहीं जाएगा।

—लेकिन वे तो जा ही रहे हैं।

—जा रहा है पर नहीं जाएगा। यही तो बात है।

—मां रो रही हैं।

—रो रही है तो इसमें हर्ज क्या है। रोने से वह स्वस्थ रहेगी। हिस्टीरिया के मरीज के लिए रोना भी एक दवाई के समान है। पर अनादि के मामले में तुम निश्चिन्त रह सकती हो। वह बेवकूफ नहीं है। स्वाभिमान में आकर अपना भविष्य नहीं बिगाड़ेगा। खाना तो खाया था न?

—जाना था इसलिए पहले ही खा चुके थे। मां रो-पीट रही थीं, नहीं तो शाम ही को चले जाते। अब कल सुबह जाएंगे।

—ठीक है। दो चार-दिन घूम आना उसके लिए अच्छा रहेगा। बीच-बीच में आबोहवा का परिवर्तन अच्छा रहता है। इसके बाद श्रावणी और क्या बोल सकती थी? लोकमोहन बोले—चन्द्रपीड़ के रहने की व्यवस्था दक्षिण के बरामदे से लगे कमरे में ही की है न?

यह कोई जरूरी बात नहीं थी। पर लोकमोहन के पेइंग गेस्ट का नाम सुनकर श्रावणी एक क्षण के लिए अवाक् रह गई। बड़ा सुन्दर नाम है। फिर अस्फुट ही उच्चारण हो गया—'चन्द्रपीड़'।

लोकमोहन बोले—चन्द्रपीड़ राय कल ही यहां आ पहुंचेगा। आने पर देखना—लड़का अच्छा है।

एक मिनट चुप रहकर श्रावणी बोली—मुझे भेंट करने की कोई

खास जरूरत है ?

—अवश्य। जरूरत कैसे नहीं, बोलो ? घर के लड़के जैसा रहेगा। एक साथ खाना-वाना खाएगा। यह सब देखने-सुनने का दायित्व तुम ही पर तो है।

—अच्छा। कहकर श्रावणी चली आयी।

श्रावणी निःसंकोच ही ससुर के सामने से चली आयी थी क्योंकि उसने मन ही मन सोचा था, लोकमोहन शतरंज की जो चाल चल रहे हैं —उसमें वह ही जीतेगी। विश्वमोहन का फोटो हो सकता है, धूल से मलिन पड़ रहा हो—पर श्रावणी अपने को मलिन नहीं होने देगी। बुद्धि के गौरव से लोकमोहन को मुसकराने का मौका श्रावणी कभी नहीं देगी।

सच में ही अंत तक अनादि का जाना नहीं ही हुआ, क्योंकि उसके जाते समय अनुसूया बेहोश हो गई थी। ऐसी स्थिति में उन्हें छोड़कर वह कैसे जा सकता था ? उसके दूसरे दिन भी नहीं जा सका। डाक्टर को बुलाना, दवाई लाना—कितनी दौड़-धूप करनी थी—कैसे जाता ? और उसके दूसरे दिन ? धत्, इतने दिनों तक कहीं किसी की कही हुई छोटी-मोटी बात पर गुस्सा किया जा सकता था। और तब तक तो चन्द्रपीड़ भी आ गया था। जवान लड़का। अनुसूया सिर की कसम देकर अनादि से बोली थी—बेटा अनादि, इस विपत्ति में परिवार की मान-मर्यादा का भार छोड़कर चले मत जाना। यहां रहेगा तो कम से कम साथ-साथ रहकर देख-सुन तो सकेगा ? नहीं तो क्या से क्या हो जाएगा, मैं सोच भी नहीं सकती।

अनादि बड़बड़ाया—मामाजी को अचानक पैसों की क्या जरूरत आ पड़ी कि दो सौ रुपयों के लिए···

चन्द्रपीड़ को कमरा, उसकी सजावट सब-कुछ पसन्द आया। आते ही उसने दरवाजे का पर्दा खींच दिया और आराम से बिस्तर पर लेट गया। मन ही मन सोचा—खाना मिले या नहीं, यदि सारे महीने इतना ही आराम मिलता रहा तब भी दो सौ रुपए सध जाएंगे। हालांकि यहां आने के पहले तक उसे मालूम नहीं था कि मकान इतना बड़ा होगा और घर के मालिक इतने संभ्रान्त और सज्जन निकलेंगे। पहले तो उसे थोड़ा

डर और संकोच हुआ था पर लोकमोहन के सहज व्यवहार से वह भी दूर हो गया था। कमरा दिखाने के बाद ही लोकमोहन बोले थे—अच्छा मिस्टर राय, घर के लड़के की तरह मैं आपको यदि 'तुम' कहूं तो आपको कोई आपत्ति होगी ? बस, चन्द्रपीड़ का सारा संकोच एक पल में दूर हो गया था। इतने बुजुर्ग आदमी के सामने वह हल्ला तो नहीं कर सकता था पर हंसकर बोला—यह भी पूछने की कोई बात है, मि० गुप्ता अगर आप मुझे 'आप' कहते तो ही मुझे संकोच होता।

—ठीक है। मैं निश्चिन्त हो गया। थोड़ी देर तक और भी कुछ बातचीत करके उस दिन लोकमोहन अपने कमरे में लेट गए।

चन्द्रपीड़ के पिता उसके बचपन में ही गुजर चुके थे। सिर्फ विधवा मां थी उसकी। चन्द्रपीड़ ने मामा के घर पर ही रहकर पढ़ाई-लिखाई की थी। फिर बाप ने जो पैसा उसके लिए रख छोड़ा था, उसी के बल पर जापान चला गया था—खिलौना शिल्प पर ट्रेनिंग लेने। वहीं उसे खबर मिली कि उसकी मां भी अब नहीं रही। पहले तो उसने निश्चय किया कि वह देश लौटेगा ही नहीं। पर बाद में सोचा कि सीखी हुई विद्या अगर देश के ही काम न आयी तो क्या लाभ ? यही सोचकर वह लौट भी आया। पर आने के बाद उसे बड़ा दुःख हुआ—मामाओं का परिवार बिखर गया था। मां का परम आश्रय भी नहीं था। तीन मामाओं में किसके पास उसे रहना चाहिए, वह समझ नहीं सका। सभी ने उसे प्यार से रहने के लिए कहा था। चन्द्रपीड़ लड़का भी लायक था। विवाह के बाज़ार में उसकी कीमत बेजोड़ थी। पर चन्द्रपीड़ का मन उचट चुका था, इसलिए किसी भी मामा के पास रहने का उसका मन नहीं हुआ। पर अकेले रहने की भी आदत उसे नहीं थी। इसलिए इन दिनों वह पेईंग गेस्ट के विज्ञापन देख रहा था। लोकमोहन का दिया हुआ विज्ञापन उसे पसन्द आया। और संयोग की बात थी कि लोकमोहन ने भी पेईंग गेस्ट के रूप में उसे ही पसन्द किया।

यहां आते ही चन्द्रपीड़ समझ गया कि पैसे के लिए नहीं, वरन् संग पाने के प्रयोजन से ही लोकमोहन ने इस तरह का विज्ञापन दिया था। परिवार में अपनी कोई सन्तान नहीं, पत्नी चिररुग्णा। संभवतः लोकमोहन

की एक वयस्का कन्या थी। और एक भानजा। अनादि नाम था शायद। बाकी तो सब नौकर-चाकर थे।

लोकमोहन ने पहले ही दिन कहा था—अपने को इस परिवार का एक सदस्य समझना।

चन्द्रपीड़ ने मन ही मन सोचा—लोकमोहन के अनुरोध की मर्यादा वह अवश्य रखेगा। परायों की तरह नहीं रहेगा। न जाने उनकी लड़की कैसी है? एक ही मकान में जब रहेंगे, कभी न कभी भेंट तो होगी ही। क्या पता कहीं उसके चक्कर में न आ जाऊं या मुझे देखकर वही मुझ पर फिदा हो जाए। ऐसे लड़का तो मैं भी कोई बुरा नहीं। देखने में भी अच्छा हूं। स्वस्थ हूं। हां, रंग थोड़ा फीका जरूर है। ड्रेसिंग टेबल पर लगे आईने में अपने को देखकर चन्द्रपीड़ हंस कर मन ही मन बोला—किसी भी सुन्दरी के प्रेम में पड़ने के लिए मैं हर तरह से योग्य हूं।

अचानक किसी ने बाहर से कहा—अन्दर आ सकता हूं?

—कौन? शायद वह भानजा ही आया होगा।

प्रतिदिन अनुसूया की नाड़ी देखना तो अब डाक्टर के रोज़ के कामों में से था। चिकित्सा करने लायक तो कुछ था नहीं, सिर्फ घुमा-फिराकर दवाई देकर रोगी के परिवार को ढांढ़स देना था। डाक्टर भी थक चुके थे। समय की भी कमी थी उनके पास। फीस भी उनकी अधिक थी। बिना प्रयोजन यहां रोज़-रोज़ आना उन्हें खल रहा था। पर यह बात वे लोकमोहन को नहीं कह सकते थे। इसलिए एक दिन डाक्टर ने लोकमोहन से कहा—मि० गुप्ता, मेरा एक असिस्टेन्ट है। मैं उसे कह दूंगा कि मिसेज गुप्ता का प्रेशर चेक कर जायेगा। मैं नियम से आ नहीं पाता। तुम्हारे आगे शर्मिन्दा हूं।

लोकमोहन हंसकर बोले—अरे डाक्टर, शर्मिन्दा तो मुझे होना चाहिए। हर वक्त तुम्हें तंग करता रहता हूं। मिसेज गुप्ता को अब भी रोज डाक्टर को दिखलाना जरूरी है या नहीं, तुम ही बता सकते हो। और कोई व्यवस्था कर सको तो ठीक ही है। यह मामला तो मेरे जुरिसडिक्शन के अधीन है नहीं। बहू से पूछो। अनादि से भी पूछ सकते हो।

हो जायेगा, समझीं न ? मैं दरवाज़े पर खड़ा हूं, जल्दी से खा लो। पकौड़े बिलकुल गरम-गरम तलवाकर लाया हूं। तुम पर तो कड़ा पहरा है—क्या पता भाभी को इसी क्षण इस कमरे में आने की जरूरत पड़ जाए ?

अनुसूया विकृत स्वर में बोली—जरूरत तो क्या खाक है ? मुझे दूध पिलाने आएगी। क्या कहूं, अनादि ! भगवान सब तरफ से मुझे मार रहे हैं नहीं तो उसकी हिम्मत थी कि मुझ पर इस तरह हुक्म चलाती। दूध-पिलाकर मुझे जिन्दा रखेगी। मेरा कौन-सा सुख का जीवन है जो मुझे सौ वर्ष जीना पड़ेगा ?

अनादि इधर-उधर ताककर झट से बोला—भाभी तो यही कहती थी कि तुम सौ साल जिओगी।

—क्या कहा उस सर्वनाशी ने ?

—तुम बहुत उत्तेजित हो उठती हो, मामी। जाओ—वह कुछ नहीं कहती थी। तुम्हारी कमज़ोरी के लिए कहती है—मां की कमजोरी मानसिक है। वे चाहें तो स्वस्थ होकर घूम-फिरकर काम-काज कर सकती हैं। कहने का मतलब है—तुम बीमार हो ही नहीं।

—चुप रह, अनादि ! मेरे सामने उसकी बात मत कर। और क्या कहती थी रे वह ?

—कहती तो बहुत कुछ थी। पर रहने भी दो। सुनकर खामखा तुम्हारी तबीयत खराब हो जाएगी। जल्दी से पकौड़ी खा लो नहीं तो किसी की आंख पड़ जाएगी और फिर बात डाक्टर के कानों तक पहुंच जाएगी।

—मैं डाक्टर से डरती थोड़े ही हूं। सबको दिखा-दिखाकर खाऊंगी। कहकर अनुसूया ने पत्ते में लपेटी पकौड़ियों को ले लिया। उसे रोमांच हो रहा था। इन सब का स्वाद तो वह भूल ही चुकी थी। इस परिवार में तो छेने के पेड़ों के अलावा बाहर से और कुछ आता ही नहीं था।

अनुसूया की जब शादी हुई थी, लोकमोहन उस समय पढ़ ही रहे थे। अनुसूया के ससुर गंगा-स्नान करने के बाद पत्ते में लपेटकर पकौड़ी, कचौड़ी और गरम जलेबियां लाते थे। आते ही पत्नी को पुकारते—कहां गईं ? यह

महिमा से जैसे चकाचौंध हो उठता था।

जरी के किनारे वाली कीमती साड़ी बांधकर वह गंगा-स्नान करती थी। लाल किनारे की टसर पहनकर और सिन्दूर की बिन्दी लगाकर गांव के सभी मन्दिरों में फेरा लगाती। गांव के सभी घरों में जाती, सभी को मिठाई बांटती। भाई-भतीजों पर खूब खर्च करती। नौकर-चाकर को भी टोकरी-टोकरी भर मिठाई देती। भाभियों को साड़ी देती। कपड़े-जेवर और ऐश्वर्य से लदी हंसती-बोलती वह बुआ मानो गांव की जान थी। ऐसी महिला फिर कभी अनुसूया की नज़र में नहीं आयी।

फिर अनुसूया स्वयं भी तो धनी घर की बहू थी। वैसे वह उस बुआ से किसी तरह कम नहीं थी। पर जीवन भर कभी भी वह अपने पति-पुत्र के साथ मैके नहीं जा पायी। प्रस्ताव सुनते ही लोकमोहन हंसकर टाल देते—अपनी मां के घर जाने की तुम्हारी इच्छा स्वाभाविक है पर हम लोगों का प्रश्न कहां उठता है? जाना चाहती हो तो आदमी भी साथ में चला जाएगा या ड्राइवर पहुंचा आएगा।

पर इस तरह अनाथ की तरह अकेली अनुसूया क्यों जाएगी बाप के घर? पति को आंचल में बांधकर न ले जाने पर कोई इज्जत नहीं। पति जज हैं और ऐसे जज पति से पांच जनों के सामने किसी हुक्म की तामील करवाकर अपनी महिमा न दिखा सके तो जाने से फायदा ही क्या?

एकमात्र इकलौता बेटा। उसे भी छोड़कर जाना पड़ेगा। फिर ऐसे प्रभाव-शून्य अभागे जीवन को पीहर वालों को दिखाने की इच्छा अनुसूया को कभी नहीं हुई। कभी किसी की बीमारी में या किसी शोक के अवसर पर अनुसूया अकेली मां के घर गई भी थी पर उस परिस्थिति में अकेली जाना किसी को खटकता नहीं था।

बेटे की शादी के बाद एक बार बहू-बेटे को लेकर जाने की इच्छा भी अनुसूया ने प्रकट की थी पर बाद में ऐसा प्रस्ताव करने पर उसे स्वयं पर ही धिक्कार हुआ था। आखिर क्यों? क्या श्रावणी ने कोई अभद्र व्यवहार किया था? शायद नहीं। आचरण उसका अत्यधिक भद्र था और यही अनुसूया के लिए अधिक यंत्रणादायक भी था। परिवार के अपनों से भी लोग क्यों केवल भद्र आचरण ही करते हैं? कभी-कभार सहज और खुले

क्यों नहीं होते ? लेकिन इस परिवार का रंग-ढंग ही कुछ ऐसा था कि ये लोग अपने को बदल नहीं सकते थे।

अनुसूया खूब समझती थी—लोकमोहन और श्रावणी उसे किस दृष्टि से देखते थे।

बहुत सोच-विचार के बाद अनुसूया इस निष्कर्ष पर पहुंची कि उसकी बीमारी ही इसका कारण थी। जज की आदर्श पत्नी ... भारी-भरकम होती तो लोग उसे भी जरूर मानते। पर ... खिलाफ था, नहीं तो तीस तोले के जेवर पहनने ... ऐसा करने की क्षमता उसमें नहीं थी। जीवन ... और डाक्टरों को दिखा-दिखाकर भी वह इस ... दिन पर दिन और भी घिसती चली गई, और ... उठता था। लेकिन उसकी यह बहू, कैसा स्वस्थ ... भी घिसता नहीं। पति के वियोग पर भी नहीं ...

अनुसूया के सोचने में बाधा पड़ी। अनादि ... आ रहा है। अनादि की चेतावनी पाते ही ... नीचे फेंक दिया और कपड़े से हाथ पोंछकर ... दे। कोई मेरा सिर काट लेगा कि मैं किसी ने ... इससे पहले ही दूध का गिलास लेकर श्रावणी ...

अनुसूया श्रावणी की आंखों से आंखें नहीं ... गई और करवट बदलती हुई बोली—अनादि, ... है। दूध नहीं पीऊंगी।

पर श्रावणी नाराज होकर गई नहीं। ... आकर बोली—तबीयत खराब है इसीलिए ...

—माई गॉड ! क्या कहते हो ! मिस्टर ... उनकी एक बिन-ब्याही लड़की है।

अनादि चेहरे पर करुण भाव लाकर ... ने यह बात बड़े दुःख से कही होगी। ... को फिर स्वाभाविक सहज जीवन ...

रहना उनसे सहा नहीं जाता।

चन्द्रपीड़ वोला—यह तो वड़ी स्वाभाविक वात है, अनादि वावू! मेरा मन वड़ा उदास हो गया है। मैंने ऐसा कुछ सोचा भी नहीं था। लोकमोहन वावू को देखकर कुछ आभास ही नहीं मिलता कि उनके अन्दर इतना वड़ा कोई दुख भी है। गंभीर होने पर भी वड़े सीधे स्वभाव के हैं।

अनादि नाटकीय ढंग से वोला—आयरन मैन। समझे न, मि० राय! मेरे मामाजी विलकुल फौलाद के वने हैं। इतनी वड़ी दुर्घटना हो गयी पर उन्होंने अपने को संभाले रखा। अपने काम-काज में यथावत् डूवे रहे। हां, वेचारी मामी विलकुल टूट चुकी हैं। जिंदा होकर भी मरी जैसी पड़ी रहती हैं।

—अच्छा एक वात वताइए, अनादि वावू! मुझे भी मांजी से एक वार मिलना चाहिए? चन्द्रपीड़ ने पूछा।

अनादि चौंककर वोला—ऐसी गलती कभी मत कीजिएगा, मि० राय! लड़के के मरने के वाद वह कैसी ही हो गई हैं। आप जैसे कम उम्र के किसी लड़के को देखकर वह अपना धैर्य खो वैठती हैं। इस समय तो मैं ही उनका एकमात्र सहारा हूं।

थोड़ी देर तक चुप रहने के वाद चंद्रपीड़ वोला—मुझे किस तरह रहना चाहिए कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

—आप सिर्फ अभिनेता वनकर रहिए, मि० राय! मामाजी ने आपको जैसा समझाया है आप उसी हिसाव से रहिए। अंदर की वातें आप जानते हैं, यह उन्हें मत समझने दीजिएगा। मैं तो दोस्त की तरह सव वातें आपको वता गया। असल में आप मुझे वहुत पसंद हैं।

चन्द्रपीड़ हंसकर वोला—आप भी मुझे पसंद हैं।

टेवल पर चाय रखी थी। वरामदे में कांच लगी खिड़कियों से धूप की किरणें कुर्सी और मेज पर विखरी पड़ी थीं। श्रावणी टेवल पर नाश्ते की प्लेटें जचा रही थी। शीशे से रंगीन धूप की किरणें उसकी सफेद साड़ी पर पड़ रही थीं।

खिड़कियों पर रंगीन शीशे लगवाने का फैसला अनुसूया का ही था। मकान वनते समय वह इस जिद पर अंत तक अड़ी रही। विश्वमोहन नाक

सिकोड़कर बोला था—बिलकुल गांव का स्टाइल है। लोकमोहन बस उससे एक ही वार बोले थे—मां की वात रहने दो। वरामदा अंदर की तरफ है इसलिए उसकी राय से ही काम होना चाहिए। पर शीशे लगने के बाद सभी को पसंद आया था।

विश्वमोहन ने कितनी ही वार चाय की टेवल पर श्रावणी से कहा था—तुम तो बिलकुल परी जैसी लगती हो।

श्रावणी भी हंसकर बोलती—परी को तुमने कभी देखा भी है?

—परी को देखने की जरूरत नहीं। उसका रूप तो मन के अंदर होता है।

—और फिर एक दिन मन से निकलकर वह मूर्त रूप धारण कर लेती है, यही कहना चाहते हो न? श्रावणी मुसकराकर बोली थी।

—ठीक। बिलकुल ठीक कहा तुमने। फिर मौका देखकर झट से श्रावणी को थोड़ा प्यार कर लेता था विश्वमोहन।

घर में खाने-पीने, पहनावे में आधुनिकता वरतने पर भी आचरण में कुछ रूढ़िपन था—वह भी अनुसूया के संस्कारों के कारण। अनुसूया को कभी पसंद नहीं था कि बेटे और बहू उसके सामने हीं हास-परिहास करें। बड़ों के प्रति कुछ इज्जत और थोड़ी दीवार तो रहनी ही चाहिए।

पर श्रावणी के लिए क्या इस निषेध की कभी जरूरत थी? उसके स्वभाव में एक नम्रता थी और उसकी शालीनता पर उंगली उठाने की कभी जरूरत नहीं पड़ी। ऐसे तो विश्वमोहन भी कोई हल्के स्वभाव का आदमी नहीं था पर नई-नई शादी हुई थी। लेकिन स्वाभाविक उच्छ्वास को भी अनुसूया की वजह से संयत रखना पड़ता था।

सफेद साड़ी में लिपटी श्रावणी आज भी तो परी जैसी ही दीख रही थी। इधर-उधर घूमते-फिरते समय साड़ी की परतें नीली, बैंगनी और हरे रंग की किरणों से चमक उठती थीं। पर आज उसके इस रूप को देखकर सराहने वाला कोई नहीं था।

केवल लोकमोहन ने अखबार पढ़ते-पढ़ते अखबार की आड़ में से पूछा—लड़का कैसा लग रहा है?

—लड़का? चाय की केटली टेवल पर रखकर श्रावणी बोली—

आप चन्द्रपीड़ के बारे में पूछ रहे हैं ?

चन्द्रपीड़ ? श्रावणी की जबान से सहसा चन्द्रपीड़ का नाम सुनकर लोकमोहन विस्मित हो गए, या थोड़े दुखी या विचलित ? तो क्या श्रावणी चन्द्रपीड़ को उसका नाम लेकर पुकारती थी ? लोकमोहन ने तो मि० राय कहकर ही परिचय करवाया था। स्वयं भी वे चन्द्रपीड़ को 'तुम' कहने पर भी संबोधन 'राय' कहकर ही करते थे। पर श्रावणी कब कैसे इतनी अंतरंग बन गयी कि मि० राय से चन्द्रपीड़ पर उतर आयी ? और वह भी इतनी जल्दी ? लोकमोहन क्या यही चाहते थे ? क्या वे यह देखने के लिए आतुर नहीं थे कि उनकी बुद्धि के उत्ताप से कठिन श्रावणी का मन धीरे-धीरे पिघलेगा।

विस्मय से लोकमोहन ने पूछा—तुम उसे नाम लेकर पुकारती हो ?

—जब घर के लड़के की तरह ही है तब नाम लेकर पुकारना ही तो अच्छा है, बाबूजी। कोमल स्वर में श्रावणी ने जवाब दिया।

अखबार को समेटकर लोकमोहन बोले—सो तो ठीक है। पर वह कुछ सोच सकता है। इतनी जल्दी...

—नहीं, बाबूजी। कुछ सोच सके इस तरह का लड़का वह ही है नहीं।

लोकमोहन की भौं अनजाने ही तन गयीं। बोले—अनादि बाबू आज-कल दीखते नहीं हैं। चाय पीनी छोड़ दी है क्या ?

श्रावणी हंस पड़ी। बोली—नहीं। सिर्फ आपके सामने आना छोड़ दिया है।

—वजह ?

—आपने ही उन्हें सामने आने के लिए मना कर रखा है। श्रावणी हंसकर ही जवाब दे रही थी। लोकमोहन को लगा उन्होंने बहुत दिनों के बाद श्रावणी को हंसते देखा है। इस हंसी का कारण कौन हो सकता था ?

इसी बीच चाय की टेबल पर चन्द्रपीड़ आकर बैठा। सफेद कुर्ते-पाजामे में वह बहुत सुन्दर दीख रहा था।

—आओ, बैठो, राय। आवाज़ में सहृदयता का सुर लाकर लोकमोहन

बोले—आगरपाड़ा में तुम्हारे कारखाने खोलने की बात चल रही थी, क्या हुआ उसका ?

—सुविधाजनक जगह नहीं मिल रही है, मि० गुप्ता।

—सुविधाजनक जगह आजकल बड़ी दुर्लभ वस्तु है, राय। जगह बनानी पड़ती है अपनी चेष्टा से।

—कभी-कभी विधाता प्रदत्त भी मिल जाती है। श्रावणी की ओर ताककर चन्द्रपीड़ हंसता हुआ बोला।

लोकमोहन ने दोनों को देखा। पल भर के लिए तो उनकी भौं तन गयीं पर तुरंत ही अपने को संभालकर बोले—आज का अखबार पढ़ा है ?

चन्द्रपीड़ शर्म की हंसी हंसकर बोला—नहीं, अभी तक तो नहीं पढ़ा है।

—इतनी देर तक करते क्या हो ? यंगमैन हो थोड़ी फुर्ती हो,नी चाहिए। अच्छा, तुम लोग बैठो—खाओ। मैं जरा उठता हूं।

श्रावणी और चन्द्रपीड़ को चाय की टेबल पर छोड़कर लोकमोहन बड़े सहज भाव से उठ पड़े।

—बाबा। चन्द्रपीड़ भय का अभिनय करके बोला—मि० गुप्ता के साथ बात करने में इतना डर लगता है।

श्रावणी हंस पड़ी। बोली—क्यों ? डर किस बात का ?

—किस बात का ? आप क्या कह रही हैं ? बाप रे, जज की आंखों से इस कदर ताकते हैं कि अपने को मुजरिम-सा महसूस होने लगता है।

—यह तो बड़ी मुश्किल की बात है।

—मुश्किल क्यों ? आप ही कहिए, आपको डर नहीं लगता ?

—बिलकुल नहीं।

—इसके जवाब में मुझे क्या कहने का मन हो रहा है, बताऊं ?

—क्या ?

—यही कि या तो आप उनसे बोलती ही नहीं या फिर आप स्वयं ऐसी बदमिजाज औरत हैं कि…

बात अधूरी ही थी कि श्रावणी खिलखिलाकर हंस पड़ी। ऐसा लगा

मानो बहुत दिनों से बन्द किसी खिड़की का पल्ला अचानक खुल गया हो। धूप की किरणें चन्द्रपीड़ के चेहरे पर भी पड़ रही थीं। श्रावणी उसकी तरफ देखे बिना नहीं रह सकी—कितना भोला चेहरा था। होंठों की बनावट बच्चों-सी सुकुमार, आंखों की दृष्टि में तेज बुद्धि और सरलता का समन्वय। ऐसे व्यक्ति को दूर हटाकर रखना कठिन था। दूर रखने में ही शर्म आती थी। प्यार किए बिना रहा नहीं जा सकता था।

श्रावणी की हंसी सारे मकान में गूंज उठी। अनुसूया पूछ बैठी—इस तरह कौन हंस रहा है रे, विष्टु ?

विष्टु गंभीर होकर बोला—भाभीजी।

—भाभी जी ? इस तरह से हंस रही है ? वहां और कौन है, अनादि?

विष्टु बोला—नए गेस्ट बाबू।

—वही नया लड़का ?

—जी, मांजी।

—वह उससे बातें करती है ?

—हां, मांजी !

—हां, और हां। बातें करनी नहीं आती तुझे ? निकल जा यहां से !

विष्टु क्या करता ? धीरे से निकल गया।

विष्टु विश्वमोहन का खास नौकर था। उस समय उसकी मान-मर्यादा कुछ और ही थी। अब तो उसका यहां रत्ती भर भी जी नहीं लगता था। भाभी ने तो उस दिन गेस्ट बाबू का कमरा साफ करने का भार उसी पर सौंपा था, पर उस काम में उसका मन ही नहीं लगा। उसने यह काम नन्दू को सौंप दिया। मांजी भी उसे पसंद नहीं थी। पर वह ठहरा नौकर आदमी—पैसे के बदले काम करता था—उसके मन की क्या कद्र ? बड़ा भाई मिलने आया था। उसके साथ गांव चला जाता तो अच्छा ही होता। आदमी अगर मर जाए तो औरत तो बाप के घर ही जाकर रहती है पर शहर के साहबों की रीति ही अलग थी। विष्टु सोच रहा था और मन ही मन उसका गुस्सा बढ़ रहा था।

विष्टु के जाने के बाद अनुसूया बिस्तर पर उठ बैठी। वह निश्चिंत

—तुमने उसका साथ निभाया था या नहीं ? उससे स्नेह, प्यार, सुविधा यह सब तुमने पायी थी या नहीं ? पति-पत्नी के नियम से साथ रहे थे या नहीं ? अनुसूया की आवाज़ में मानो आग थी।

यह आग श्रावणी के कानों में भी अंगारे बरसा रही थी। उसकी आंखें जल उठीं। गरम आंसुओं से श्रावणी के दोनों गाल भीग गए।

श्रावणी के चेहरे की ओर एक कठोर दृष्टि फेंककर अनुसूया चीखी—आंखों से दो बूंद आंसू तो कम से कम निकले। पत्थर की आंखों में तो आज तक आंसू भी देखने का अवसर नहीं मिला था। टप्-टप् आंसू की बूंदें ज़मीन पर गिर रही थीं। श्रावणी सिर झुकाकर खड़ी रही।

नत-मुखी श्रावणी की तरफ देखकर अनुसूया फिर बोली—देख बेटी, कटु बातें कहने की साध मुझे भी नहीं है, पर तुमने मेरा मुंह खुलवाकर ही छोड़ा। तुम हिन्दू घर की लड़की हो—यही बात तुम्हें याद दिलाने के लिए बुलवाया था।

आंखें चाहे श्रावणी का साथ नहीं दे पा रही हों, पर गले की आवाज़ और मन को स्थिर कर वह बोली—इस बात को याद दिलाने की आवश्यकता आ पड़ी है, आपको ऐसा लग रहा है ?

—लग तो रहा ही है, बहू। नहीं तो···फिर कंठ में थोड़ा ज़हर लाकर बोली—नहीं तो क्या इस मृत्यु-शैया पर पड़ी रहकर संसार पर नजर दौड़ाने की मुझे जरूरत पड़ती ? अपने ही घर में अपने मुन्ने का अपमान मैं हर्गिज नहीं बर्दाश्त कर सकती।

सहसा श्रावणी बोली—मैं आपको वचन देती हूं कि अगर कभी ऐसी परिस्थिति मेरे जीवन में आयी तो इस घर में रहने का मैं दावा नहीं करूंगी।

—क्या कहा ? निर्लज्ज, नीच ! अनुसूया पागल की तरह चिल्ला उठी—घर छोड़ सकती हो पर उस बदमाश को नहीं छोड़ सकती ?

—मां ! प्रतिवाद का एक तीव्र स्वर श्रावणी के मुंह से निकला।

इसके बदले कि अनुसूया कुछ बोलती, दरवाज़े के पास किसी की लम्बी परछाईं पड़ी। नन्दू बोला—मांजी, छोटे डाक्टर बाबू आए हैं।

नन्दू के ठीक पीछे छोटे डाक्टर साहब खड़े थे। डाक्टर के सहयोगी डाक्टर निर्जन सोम। डाक्टर सोम अवाक् होकर श्रावणी का रोता हुआ चेहरा देख रहा था। उसे हैरानी हो रही थी कि अनुसूया की हालत पर इस घर में आंसू बहाने वाला कौन था?

डाक्टर मजूमदार के मुंह से अनुसूया के रोग के इतिहास के साथ-साथ इस परिवार का सारा इतिहास भी निर्जन सोम सुन चुका था। तो क्या यही लोकमोहन की विधवा पुत्रवधू थी—दुखपूर्ण घटना की नायिका! शायद अनुसूया के पास रोकर अपना मन हल्का कर रही थी। या फिर हृदय का अंतिम आश्रय भी अनुसूया के अभाव में टूट जाएगा—इस भय से रो रही थी?

एक लमहे में ही डाक्टर के मन में इतनी बातें उठी थीं पर दूसरे ही क्षण उसे अपने सारे प्रश्नों का उत्तर मिल गया जब अनुसूया चिल्लाकर बोली—बाहर के आदमी के सामने सिर पर कपड़ा देना चाहिए, इतनी शिक्षा भी तुम्हें नहीं मिली है, बहू?

सास की इस डांट से क्या श्रावणी ने सिर पर झट आंचल खींच लिया? नहीं। सिर्फ़ डाक्टर की बगल से दरवाज़े से होकर बाहर चली गयी।

अनजाने में ही डाक्टर ने हाथ उठाकर नमस्ते किया और जाते-जाते श्रावणी ने भी अपने दोनों हाथ जोड़ दिए।

अनुसूया के रक्त-शून्य पीले हाथ को हाथ में लेकर जब डाक्टर सोम नाड़ी देखने लगा तो अनुसूया बड़ी मिन्नत से बोली—मुझे थोड़ा-सा जहर दे सकते हैं, डाक्टर साहब? डाक्टर मजूमदार को तो कई बार कहकर हार चुकी हूं। तुम तो कच्ची उम्र के हो, दया-ममता अभी दिल में होगी। तुम मेरी मनोवेदना समझ सकते हो।

•

जिल्द पुरानी पड़ गयी थी। पहले के कुछ पन्नों के फोटो भी मलिन पड़ गए थे। दुनिया जिसे नहीं रख पायी थी, विज्ञान ने उसकी छाया को पकड़ रखा था। यह विश्वमोहन के फोटो का एलबम था। विश्वमोहन जब ज़िन्दा था—इसे उसने पुराने कागज़ों के ढेर के साथ डाल रखा था। उस

समय किसी ने भी नहीं सोचा था कि उस धूसर-धूमिल एलबम को आज लोकमोहन की दराज में जगह मिलेगी और वे कभी एकान्त कमरे में घुंघराले बाल, गोल-मटोल चेहरे के एक शिशु मुख को अपलक देख रहे होंगे। विश्वमोहन की हर उम्र के कितने ही फोटो लगे थे इस एलबम में। उपनयन और मुंडन के समय के फोटो भी उसमें चिपके हुए थे।

वे बहुत देर तक उस एलबम को देखते रहे। आंखें भर आयी। कुर्ते की आस्तीन से उन्होंने आंखें पोंछ डालीं।

क्या लोकमोहन आज विश्वमोहन के आगे माफी मांग रहे थे या फिर उससे किसी चीज़ की स्वीकृति मांग रहे थे?

लोकमोहन के सदा ओजस्वी चेहरे पर आज बुढ़ापे की छाप स्पष्ट थी। बार-बार उनकी आंखों में आंसू आ रहे थे।

दरवाज़े के बाहर किसी चीज़ की आहट हुई। इतनी रात गये कौन हो सकता था? उन्होंने घड़ी की तरफ देखा। पौने बारह बज रहे थे। गला खखारकर पूछा—कौन है?

बाहर से अनादि बोला—हम लोग हैं, मामाजी।

—तुम लोग कौन?

—मैं और मि० राय। अभी लौट रहे हैं।

—लौट रहे हो? कहां गए थे?

अनादि थोड़ा शरमाकर बोला—सिनेमा चला गया था।

—आखिरी शो में?

—जी। मि० राय ने एकाएक रात को प्रस्ताव रखा कि मेट्रो में एक अच्छी फिल्म चल रही है।

—ठीक है, जाओ।

अनादि चला गया। उसका कार्य सिद्ध हो चुका था। जूता घिसने का उद्देश्य सफल हो गया था। केवल अनादि ही नहीं, भलेमानस मि० राय भी लोकमोहन के साथ थोड़ा मजाक कर सकते थे—लोकमोहन को यह जानना चाहिए।

अनुसूया हर समय अपने को अभागिन कहकर कोसती रहती थी। क्या

सच में वह कोई गलती कर रही थी ?

'अभागिन अगर न होती तो क्या इतने गहरे दुःख में भी उसे किसी की सहानुभूति नहीं मिलती ? न घर में, न ही बाहर—उसकी कहीं कोई नहीं सुनता था, नहीं तो यह नया डाक्टर उसके दुःख को समझने की चेष्टा नहीं करता ? उसे छोड़ वह तो उल्टे अनुसूया की विधवा बहू के लिए सोचने-विचारने बैठ गया। और सच में निर्जन सोम सोच रहा था—क्या नाम हो सकता है उसका ? पूर्णिमा की ज्योत्स्ना की भांति उज्ज्वल और स्निग्ध उस लड़की का नाम क्या होना उचित रहेगा ? और उसे किस बात का कष्ट था—क्या परेशानी थी ? देखकर तो ऐसा लगता था कि जहां जाने पर उसके मन का दुःख थोड़ा कम हो जाए ऐसा भी कोई आश्रय नहीं था उसके पास, लेकिन क्यों ?

अनुसूया को देखने के लिए उस घर में तो उसे रोज ही एक बार आना पड़ेगा। क्या फिर कभी उससे भेंट होगी ?

बिस्तर में पड़ा चन्द्रपीड़ भी श्रावणी के बारे में ही सोच रहा था। किसी आवेग के कारण नहीं, श्रद्धा-मिश्रित प्यार से वह सोच रहा था कि कब रात बीतेगी और वह आज के अभियान की बात दीदी से कह सकेगा। कैसे चुप-चुप वह और अनादि सिनेमा देखने निकल पड़े थे और लौटते समय कैसे अनादि की गलती से पकड़े गए थे। जब तक वह दीदी से यह सब बढ़ा-चढ़ाकर कह न दे, चन्द्रपीड़ को नींद नहीं आएगी।

इस परिवार में आने से पहले लोकमोहन के मुंह से वयस्का अविवाहित लड़की की बात सुनकर मन में जो कौतूहल का भाव जगा था वह अनादि से घर का सच्चा इतिहास सुनकर मिट गया था। चन्द्रपीड़ का स्वभाव ही ऐसा मीठा और सरल था कि दूसरे आदमी पर उसे बरबस प्यार और श्रद्धा हो जाती। अनादि को भी वह बहुत मानता था और बिष्टु या नन्दू के प्रति भी स्नेह का भाव रखता।

लोकमोहन से उसे डर लगता था, पर इसके बावजूद वह उन्हें बहुत मानता। जीवन की इतनी बड़ी क्षति का बोझ जो नीरव होकर ढो रहे थे, उन्हें श्रद्धा किए बिना चन्द्रपीड़ कैसे रह सकता था ?

तो फिर? इस घर के सभी व्यक्तियों को तो चन्द्रपीड़ प्यार और श्रद्धा करता था तो फिर श्रावणी को भी मन में वह कैसे नहीं जगह देता?

इस प्रकार दोनों के बीच एक मधुर और निष्पाप स्नेह का बन्धन मजबूत होता जा रहा था।

श्रावणी सुन्दर थी, उसमें यौवन की गरिमा थी। चन्द्रपीड़ हट्टा-कट्टा पूर्ण युवक। और फिर चन्द्रपीड़ का स्वभाव ही कुछ ऐसा था कि जैसे ही उसने सुना कि श्रावणी विधवा है और वह लोकमोहन की पुत्रवधू है, उसी पल से उसने श्रावणी को अपने मन में श्रद्धा के ऊंचे आसन पर बैठा दिया था।

और श्रावणी भी चन्द्रपीड़ को अपने से छोटे के अलावा और कुछ नहीं सोचती थी। इसलिए जिस दिन चन्द्रपीड़ ने सहसा उसे 'दीदी' कहकर पुकारा था, श्रावणी शान्त सुन्दर-सी मुसकराहट के साथ बोली थी—चलो, अच्छा हुआ भाई। मैं भी तुम्हें नाम लेकर पुकारा करूंगी। 'आप', 'जी' कहने में जरा भी अच्छा नहीं लगता।

यह बात लोकमोहन नहीं जानते थे और चूंकि चन्द्रपीड़ भी मुश्किल से ही कभी लोकमोहन के सामने आता था और हमेशा उनसे नजर बचाकर भागता फिरता था इसलिए उन्हें पता भी नहीं चला कि कौन किसको क्या कहकर पुकारता है। इसलिए श्रावणी के मुंह से चन्द्रपीड़ का नाम सुनकर उनके मन को थोड़ा धक्का पहुंचता। ऐसा क्यों होता था यह तो लोकमोहन स्वयं भी नहीं बता सकते थे। शायद उन्होंने जैसा सोच रखा था—ठीक उस रूप में सब-कुछ आगे नहीं बढ़ रहा था। या फिर स्नेह, ममता, सहृदयता और प्रगतिशील हृदय के साहसी संकल्प के बीच भी मन का चिराचरित संस्कार उन्हें पीड़ित कर रहा था। यह संस्कार वही था जो विधवा नारी को दूसरे पुरुष पर आसक्त देखने पर आहत हो उठता है। पारिवारिक मर्यादा की हानि हो रही है, सोचकर ऐसा कठोर रूप धारण कर लेता है जो संस्कार बुद्धि और युक्ति को अस्वीकार कर विरोध कर उठता है—यह क्यों, कदापि नहीं।

इसलिए लोकमोहन धीरे-धीरे चन्द्रपीड़ के प्रति कठोर होते गए। चन्द्रपीड़ सरल चित्त का भोला-भाला इन गूढ़ बातों को बिना सोचे-समझे

और भी उनकी नजर बचाकर चलता और कहता—बाबा ! उनको देखने से तो मुझे ऐसा डर लगता है कि मैं कोई मुजरिम हूं।

उस दिन सुबह चाय की मेज पर बड़े हल्के स्वरों में बातचीत हो रही थी। आज भी धूप की किरणें रंगीन शीशों से होकर श्रावणी की सफेद साड़ी को धूप-छांह का रंग दे रही थीं। चन्द्रपीड़ का सुकुमार चेहरा उन किरणों में और भी भोला दीख रहा था। अनादि टेबल के कोने की कुर्सी पर बैठा था जहां रोशनी की अपेक्षा छांह ही अधिक थी। वहीं बैठा-बैठा वह श्रावणी को ऐसी दृष्टि से घूर रहा था, जिसमें कोई सरलता नहीं थी। लोकमोहन अभी तक चाय की मेज पर नहीं आये थे। आज सुबह उन्होंने अपने कमरे में ही चाय मगवाकर पी ली।

श्रावणी घबराकर उनसे पूछने कमरे में आयी। लोकमोहन ने झट उस धूमिल एलबम को ताजे अखबार से ढक दिया और बोले—तबीयत तो ठीक ही है, बहू। केवल मन नहीं हो रहा है। राय को किसी चीज़ की असुविधा न हो—जाओ, देखो।

श्रावणी चेहरे पर प्रसन्नता का भाव लाकर बोली—बड़ा अजीब लड़का है। उसे तो कभी भी किसी बात की दिक्कत ही नहीं होती, बाबूजी।

—ऐसा कहने से तो चलेगा नहीं। वह चाहे कुछ भी न मांगे, पर महीने भर का खर्च जब वह पूरा देता है तो उसकी जरूरत तो सारी पूरी करनी पड़ेंगी न।

लोकमोहन क्या जान-बूझकर श्रावणी को याद दिलाना चाहते थे कि चन्द्रपीड़ उस घर का कोई नहीं और उसके साथ केवल लेन-देन का ही रिश्ता है। श्रावणी स्तब्ध रह गयी। चुपचाप कमरे से बाहर निकल आयी। श्रावणी के जाने के बाद लोकमोहन ने एलबम को दराज में रखकर उसमें ताला लगा दिया। क्या पता—सारी रात जगकर वे शायद इसी एलबम के पन्ने ही उलटते रहे हों।

श्रावणी मौन और उदास चाय की मेज पर आकर बैठी। अनादि और चन्द्रपीड़ पहले से ही बैठे थे। श्रावणी को देखते ही चन्द्रपीड़ हंसकर

बोला—दीदी, सुना है आज हम लोगों के लिए स्वराज का दिन है।

—स्वराज ? अवाक् आंखों से श्रावणी ने उसकी ओर देखा।

—सुनने में आया है कि जज साहब आज इजलास पर नहीं आएंगे।

—बड़े फक्कड़ हो ! मजाक सूझ रहा है ?

—तुम चाहे कुछ भी कह लो, दीदी। उन्हें देखने पर मुझे तो बड़ा डर लगता है।

अनादि बोला—पर मामाजी तो आप पर काफी मेहरबान हैं। देखिए न कल ही रात···

—कल रात की बात तो रहने दीजिए, अनादि बाबू। कहकर चन्द्रपीड़ ठहाका मारकर हंस पड़ा—कल आपने ऐसी बेवकूफी की···जानती हैं दीदी कल रात को मैंने अनादि बाबू को सुझाया कि मेट्रो में एक दिन के लिए एक अच्छी फिल्म लगी है सो चला जाय। अनादि बाबू घबरा गये। बोले—लास्ट शो। बाप रे ! मामाजी के कमरे के आगे से ही लौटना पड़ेगा। मैंने उन्हें हिम्मत बंधायी। कहा—जज की आंखों के सामने रहकर ही अगर चोरी नहीं कर सके तो फिर 'वाह-वाही' किस बात की ? पर जब लौटे तो देखा कि उनके कमरे की बत्ती जल रही है। मैं तो खुद डर के मारे ठंडा पड़ गया।

श्रावणी बीच में ही हंसकर बोली—बड़े बहादुर हो। दाद देती हूं।

—वाह ! थोड़ा भी डर नहीं लगेगा ? खैर, मैं तो चुपचाप बरामदा पार कर गया पर अनादि बाबू का ठीक उन्हीं के दरवाजे के सामने जूता फिसल गया। ···बस, फिर क्या था ! अन्दर से गरजने की आवाज आयी —कौन है वहां ?

आवाज सुनते ही मैं तो सीधा अपने बिस्तर पर जाकर धम् से पड़ गया और सपने में अनादि बाबू की दुरावस्था की कल्पना करने लगा। जिरह के आगे बेचारे अनादि बाबू···

श्रावणी कोमल थी, उसका स्वभाव भी मृदु था पर वह क्या कभी तीखी नहीं बन सकती थी ? अनादि के प्रसंग पर श्रावणी तीखेपन से ही बोली—हो सकता है चन्द्रपीड़ कि इस जिरह की जरूरत हो।

—इसका अर्थ ? डांट सुनना भी कोई जरूरी काम है ?

लोकमोहन अपने कमरे में चहलकदमी कर रहे थे। चन्द्रपीड़ उनके सामने एक कुर्सी पर बैठा हुआ था। चहलकदमी छोड़कर अचानक लोकमोहन बोल पड़े—तुम्हें बहुत देर से बैठा रखा है न ?

बात झूठ नहीं थी। चन्द्रपीड़ को नौकर से कहकर उन्होंने अपने कमरे में बुलवाया था। पर कुछ कहे बिना ही केवल उसे बैठाकर खुद चहलकदमी करते रहे थे।

अपने को समय के हाथों में छोड़कर चन्द्रपीड़ भी चुपचाप बैठा रहा। सोचने लगा—यह किस बात की भूमिका बांधी जा रही है ? विदा करने की ? सुबह बड़े नाराज दीख रहे थे। लगता है हम लोगों का हंसी-मजाक उन्हें पसन्द नहीं आया।

ऐसा लगना स्वाभाविक भी था। चन्द्रपीड़ एक बंगाली हिन्दू परिवार का लड़का था। उसे मालूम था कि इस तरह की बन्धन मुक्त हंसी को लोग अच्छा नहीं मानते।

लेकिन···चन्द्रपीड़ मन ही मन सोच रहा था—यहां तो यह बात नहीं उठनी चाहिए। क्या मि० गुप्ता जैसे प्रगतिशील व्यक्ति भी उसी चिर संस्कार को ही मान्यता दे बैठेंगे ? जो व्यक्ति अपनी मर्जी से किसी गैर पुरुष को केवल घर में ही नहीं, बल्कि मन में भी जगह दे बैठे थे, जिन्होंने स्वयं आग्रह दिखाकर अपनी विधवा पुत्रवधू से उसका परिचय करवाया था···आज उन्हीं में यह कैसा परिवर्तन ? और फिर श्रावणी का परिचय उन्होंने अपनी विधवा पुत्रवधू के रूप में तो करवाया नहीं था। उस दिन तो असतर्कता में उनके मुंह से 'बहू' का सम्बोधन एकाएक निकल पड़ा था। खैर, जो भी हो—परिचय तो उन्होंने ही करवाया था। चन्द्रपीड़ यही सोचकर परेशान हो रहा था कि लोकमोहन जैसे उदार व्यक्ति मामूली हंसी और मजाक का दृश्य भी बर्दाश्त नहीं कर पाए ? यह कैसी बात थी ? उसे बुलाया ही क्यों गया था ? नाराज थे—यह तो उनका गंभीर मुखड़ा ही बता रहा था।

चन्द्रपीड़ कभी-कभी अधिक रात गए घर लौटता था। उसी के बारे में पूछताछ करना चाहते थे। यह बात दिमाग में आते ही वह गुस्से में सिर से पैर तक गरम हो उठा। कितने भी सीधे और सरल स्वभाव का व्यक्ति

पर मैं कुंवारी कन्या की ही तरह उसका विवाह कर देना चाहता हूं। आज मैं तुम्हारे सामने वह प्रस्ताव रख रहा हूं।

---मैं ! चन्द्रपीड़ को लगा यह एक बहुत बड़ी पहेली थी। एक तो श्रावणी के पुनर्विवाह का समाचार ही इतना आकस्मिक था कि उसे ही सहने के लिए समय चाहिए था, फिर उस पर यह विचित्र प्रस्ताव ! लेकिन चन्द्रपीड़ कौन होता था कि उससे यह सब पूछा जा रहा था। चन्द्रपीड़ ने नम्र भाव से कहा---मैं आपकी बात समझ नहीं सका।

---समझ नहीं पा रहे ! लोकमोहन की भौं तन गयीं। बोले---नहीं समझने लायक तो कोई बात नहीं। क्या तुम अपने मन को तैयार नहीं कर पाए ?

---किस बात के लिए, मि० गुप्ता ?

---विवाह के इस प्रस्ताव के साथ क्या तुम अपने को जुड़ा हुआ नहीं समझते ?

---मुझे माफ कीजिए, मि० गुप्ता। सच में मैं कुछ नहीं समझ पा रहा हूं। इस विवाह में मैं क्या कुछ मदद कर सकता हूं ?

लोकमोहन ने चन्द्रपीड़ की तरफ एक तीक्ष्ण दृष्टि से देखा, मानो जानना चाहते हों कि चन्द्रपीड़ वाकई में अबोध है या चतुर शिरोमणि जो सारी बातें स्पष्ट रूप से उन्हीं की जबान से सुनना चाहता है।

लोकमोहन बोले---विवाह के मामले में सबसे बड़ी मदद तो तुम ही कर सकते हो, यंगमैन। फिर अपने स्वर को स्वाभाविक और संयत करके बोले---यह विवाह ही तो तुम कर सकते हो। लड़की वह बुरी नहीं।

सुनते ही चन्द्रपीड़ पर तो मानो वज्र गिर पड़ा। वह उत्तेजित होकर कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। बोला---यह आप क्या कह रहे हैं, मि० गुप्ता ! आप तो बड़े खतरनाक आदमी हैं !

---राय ! तीव्र स्वर में लोकमोहन गरज उठे---शायद तुम भूल रहे हो कि तुम किसके सामने खड़े हो !

---भूला नहीं हूं, मि० गुप्ता ! हां, अपसेट जरूर हो गया हूं।

---अपसेट हो गए ? यह तो स्वाभाविक ही है---मैं मानता हूं। हम चाहे कितने भी उदार बनने की कोशिश क्यों न करें, अभी तक हमारे मन

में विधवाओं के प्रति उपेक्षा का भाव जमा हुआ है। इसीलिए सम्भवतः कुंवारी लड़की के बदले विधवा की बात सुनकर तुम चौंक गए हो। तुम्हारे उत्तेजित होने का कारण मैं समझ सकता हूं। फिर आवाज़ में आन्तरिकता लाते हुए लोकमोहन बोले—उम्मीद करता हूं इस संकोच से तुम जल्द ही मुक्त हो जाओगे।

चन्द्रपीड नम्रता के साथ बोला—मैं विधवा की बात सुनकर नहीं चौंका था, मि० गुप्ता। यह मेरे लिए कोई आकस्मिक समाचार नहीं था। जिस दिन मैं इस मकान में आया था उसके दूसरे ही दिन अनादि बाबू ने मुझे यह बात बता दी थी।

—अनादि? लोकमोहन ने अचरज से पूछा।

—हां, मि० गुप्ता। किसी उद्देश्य से नहीं, बल्कि ऐसे ही दुःख से बोल गए थे।

आपके साथ इस तरह बातचीत करने के लिए आप मुझे माफ कीजिएगा। पर क्योंकि बातें ही इतनी स्पष्ट रूप से हो रही हैं इसलिए साहस के साथ ही आपको बता रहा हूं कि प्यार का एक ही अर्थ नहीं होता।

—'सेन्टीमेन्टल बॉय! लोकमोहन एक हंसी मुंह पर लाकर बोले—तुम्हारे लिए दुनिया को जानना अभी बाकी है। पर रहने दो यह बात। लेकिन यह भी तो हो सकता है कि तुम्हारी वह 'दीदी' ही तुम्हें अपने छोटे भाई के रूप में नहीं देख रही हो?

—मेरा विश्वास है देखती है। चन्द्रपीड़ दृढ़ता के साथ बोला।

—तुम्हारा विश्वास गलत नहीं हो सकता इसका क्या प्रमाण?

—गलत है, इसका भी तो कोई प्रमाण अब तक मिला नहीं, मि० गुप्ता।

लोकमोहन बोले—लड़कियां थोड़ी दब्बू स्वभाव की होती ही हैं।

—हर मामले में नहीं, मि० गुप्ता! पर रहने भी दीजिए इन बातों को। उनके सम्बन्ध में इस तरह की आलोचना से मैं एक थकावट-सी अनुभव कर रहा हूं।

—चन्द्रपीड़! पहली बार लोकमोहन ने नाम लेकर उसे सम्बोधित किया। बोले—मैं तुम्हें कहता हूं चन्द्रपीड़ कि वह तुम्हें मानती है। पति की यादगार उसके लिए इतने कम दिनों की है कि इस प्यार में मैं स्वयं भी कोई दोष नहीं देखता।

शी इज ए यंग गर्ल, सुन्दर है, स्वस्थ है। मेरा पुत्र और उसका पति चल बसा केवल इसलिए उसके हृदय की भी सारी वृत्तियां सूख गयी हैं, यह कैसे संभव हो सकता है।

पुरुष की आंखों में आंसू थोड़े अजीब लग सकते हैं, पर न जाने क्यों चन्द्रपीड़ की दोनों आंखें छलछला उठीं, गला रुंध गया और उसी रुंधी आवाज़ में वह बोला—शायद संभव नहीं है। आप ठीक ही कहते हैं। शायद उनके हृदय की सारी वृत्तियां उतनी ही कोमल हैं। पर मुझे इस विवेचना में शामिल होने का आदेश मत दीजिए। मुझे बड़ी ग्लानि हो रही है।

—राय! लोकमोहन चन्द्रपीड़ के कंधों पर अपने दोनों हाथ रख-

कर बोले—तुमने पहले ही से हिन्दू विधवा के पवित्र आदर्श के सेन्टीमेंट से इस विषय को देखा है। तुम्हारे संकोच का कारण भी यही है। एक तरुणी लड़की, तुम उसे 'दीदी' के रूप में देखोगे इससे अधिक अवास्तविक कल्पना और क्या हो सकती है ? वह मेरी पुत्रवधू है और मेरा वह पुत्र मर चुका है। मेरी मानसिक स्थिति···खैर, यह समझने का सामर्थ्य इस समय तुम में नहीं है। फिर भी मैं इसे अपना कर्तव्य मानता हूं। उसका विवाह मैं करूंगा ही। आई लाईक यु माई बॉय। तुम्हारे जैसे सुशील लड़के के हाथों में उसका हाथ दे सका तो ··

चन्द्रपीड़ पीड़ा से भरे स्वर में बोला—यह मेरे लिए अत्यन्त ही असंभव बात है, मि० गुप्ता। आपकी यह बात उनके कानों में पहुंचने पर मैं शायद उनके सामने अपना चेहरा भी न दिखा सकूं। आप मुझे सोचने का समय दीजिए। मैं यद्यपि कोई नया उत्तर दे पाऊंगा यह आशा मैं नहीं करता।

—दे सकोगे, चन्द्रपीड़। मैं कहता हूं इसका जवाब तुम दे सकोगे। कहते-कहते लोकमोहन फिर चहलकदमी करने लगे। फिर बोले—ठीक है, मन पक्का करने के लिए दो दिन का समय और ले लो। भावनाओं से परे खुले मन से सोचकर देखना···अच्छा गुड नाईट। आशा करता हूं सुखद नींद में बाधा नहीं होगी।

नींद ? मन ही मन चन्द्रपीड़ ने इस शब्द को उसी ढंग से उच्चारण किया जिस तरह महाभारत की देवयानी ने भय के उद्देश्य से कहा था—हंसी ? हाय सखा, यह कोई स्वर्ग का राज्य तो नहीं··· ।

आज उसे नींद आएगी भी या नहीं—चन्द्रपीड़ को इसमें संदेह था—और सिर्फ आज ही क्यों? आज, कल या परसों या कभी भी क्या वह चैन से सो सकेगा ? लोकमोहन ने अगर श्रावणी से जाकर सारी बातें कहीं तो श्रावणी क्या सोचेगी ? शायद वह यही सोच ले कि चन्द्रपीड़ ने ही लोकमोहन के सामने अपनी लालसा का प्रस्ताव रखा होगा। फिर श्रावणी उसके बारे में क्या सोचेगी ? हे भगवन्! लोकमोहन के दिमाग में यह दुर्बुद्धि क्योंकर आयी ? एक सुन्दर-सी छवि पर उन्होंने कालिख क्यों पोत दी ?

६

चन्द्रपीड़ चला गया। उसके चले जाने के बाद भी दरवाज़े का पर्दा कुछ समय तक डोलता रहा—फिर स्थिर हो गया।

पर लोकमोहन चन्द्रपीड़ का चला जाना और फिर उस हिलते पर्दे को देखकर अजीब स्तब्धता की मूर्ति बने बैठे रहे। उस लटकते पर्दे को वे अपलक देखते रहे जब तक उसका हिलना बन्द नहीं हुआ।

बहुत देर बाद लोकमोहन सहसा मानो नींद से जाग उठे। अपने किए काम पर वे स्वयं आश्चर्यचकित थे।

उन्होंने यह क्या कर डाला? क्या इसीलिए उन्होंने चन्द्रपीड़ को अपने कमरे में बुलवाया था?

उधर लोकमोहन से धक्का खाकर चन्द्रपीड़ अपने कमरे में जाकर बैठ गया। यह चोट उसके लिए एक अप्रत्याशित चोट थी।

आश्चर्य तो इस बात का था कि लोकमोहन इस तरह की भूल कर कैसे बैठे? या यह उनकी भूल नहीं थी, परीक्षा थी? या सन्देह को निश्चित रूप से समझने के लिए यह उनकी कोई नयी चाल थी? उन्होंने चन्ड़पीद्र को दो दिनों का समय दिया था।

पर इसका जवाब चन्द्रापीड़ के पास कहां था? जितनी बार वह सोचने की कोशिश करता उसका मन संकुचित हो जाता, और वह स्वयं को ही धिक्कार उठता।

चन्द्रपीड़ श्रावणी को मानता है, खूब प्यार करता है। पर लोकमोहन चाहे कितनी ही अनुकम्पा की दृष्टि से उसे 'सेन्टिमेंटल बॉय' कहकर पुकारें, फिर भी चन्द्रपीड़ बार-बार यही कहेगा—सभी प्यार एक-जैसा नहीं होता। श्रद्धा, प्रीति और संवेदना से भरे उस नापाक प्यार को चाहे संसार के लोग न समझना चाहें, फिर भी अपने इस श्रद्धा भरे प्यार में चोट पहुंचे—वह ऐसा नहीं होने देगा। श्रावणी के सामने प्रस्ताव पेश होने के पहले ही वह श्रावणी के पास से भाग जाएगा।

पर लोकमोहन के प्रति भी उसके मन में श्रद्धा थी। ऐसे चरित्रवान पुरुष विरले ही दिखायी पड़ते हैं। एकमात्र पुत्र का शोक भी जिन्हें परास्त नहीं कर सका, जिन्हें असहाय नहीं बना सका ऐसे व्यक्ति को श्रद्धा किये बिना वह रह भी नहीं सकता था।···चन्द्रपीड़ ने पहले दिन

से ही चरित्र की गम्भीरता और दृढ़ता के कारण लोकमोहन को श्रद्धा से देखा था और आज उनके मन की कोमलता देखकर वह श्रद्धा और भी बढ़ गयी।

दृढ़ता और ममता का ऐसा समन्वय संसार में दुर्लभ है और इसीलिए उसे यहां से भागना ही पड़ेगा नहीं तो ऐसे प्रचंड व्यक्तित्व के आगे अधिक समय तक अपने को सम्हालकर रखना मुश्किल है।

कहकर चला जाय---यह भी चन्द्रपीड़ के लिए कठिन था। एक कागज़ और कलम लेकर वह बैठा। लोकमोहन को अपनी असमर्थता बताकर उनसे माफी मांगी। फिर सोचा---श्रावणी को भी चिट्ठी लिखना ठीक रहेगा। पर लिखने में वह सफल न हो सका। आखिर उसे वह लिख भी क्या सकता था? क्या अपने भागने का कारण बताए वह श्रावणी को? उस आकस्मिक प्रस्ताव से धक्का खाकर वह भागने पर मज़बूर हो गया ---यह बात भी कहीं लिखी जा सकती थी? अन्त तक वह लिख ही नहीं पाया। बार-बार मन में विचार उठता---श्रावणी उसे कितना अभद्र सोचेगी?

पर फिर शायद कुछ भी न सोचे। अनादि के मार्फत सारी बातें वह अब तक शायद सुन ही चुकी होगी। अनादि बड़े साफ़ और खुले दिल का आदमी है, कोई बात पेट में पचती ही नहीं। अन्त में चन्द्रपीड़ ने तय किया कि उसका अभी ही चला जाना ठीक रहेगा। फिर कुछ दिनों बाद वह चिट्ठी लिखकर समझा देगा। बहुत समय तक भेंट न होने पर अपनी इस दिन की स्थिति को बताना भी शायद आसान रहेगा। किस मजबूरी में वह इस बेतुके ढंग से भागा था---शायद श्रावणी समझ सकेगी।

दूसरी तरफ लोकमोहन भी परेशान थे। चन्द्रपीड़ को बुला भेजने के पहले तक वे सोच रहे थे कि इस लापरवाह लड़के को थोड़ा डरा-धमका-कर समझा देंगे कि भद्र परिवार में अपना आचरण भी भद्र रखे। कहेंगे---मन की सारी इच्छाओं को इतना बढ़ावा नहीं देना चाहिए। आवेश में आकर वह जाना बेवकूफी है। स्थिति को जानना-समझना चाहिए, विचार और बुद्धि से उसे परखना चाहिए, सम्भव और असम्भव दोनों को पहचानने के लिए सतर्क रहना चाहिए।

फिर जल्दी भी किस बात की है ? मन की पंखुड़ियों को धीरे-धीरे फैलने दो, प्यार के कमल को खिलने के लिए रात्रि की तपस्या और सूर्योदय की साधना की जरूरत पड़ती है। इतनी जल्दी ही अगर सब-कुछ हो जाय तब लोकमोहन का गौरव ही टूट जायेगा। श्रावणी सस्ती, साधारण बन जायेगी।···नहीं···ऐसा नहीं हो सकता। चन्द्रपीड़ को सचेतन करने के आवेश में सब-कुछ उलट-पलट गया, और भूल उन्हीं से हो गयी।

जिसे डांटने के लिए बुलवाया था, इतनी देर तक उसी की खुशामद करते रहे। किस अदृश्य शक्ति की इच्छा से ऐसा हुआ यह लोकमोहन स्वयं भी नहीं बता सके।

लोकमोहन के हिसाब में ही कोई त्रुटि रह गयी होगी।

श्रावणी की तरह चन्द्रपीड़ भी तो यही कहकर चला गया—मुझे माफ कीजियेगा।

—क्या चन्द्रपीड़ की बात सच थी ? या किसी धूर्त की चाल ? इतने दिनों तक जज की कुर्सी संभालकर भी लोकमोहन आदमी के चेहरे की अभिव्यक्ति को पहचानने में भूल कर बैठे।

बहुत देर बाद लोकमोहन कमरे से बाहर आकर खड़े हुए। देखा—चन्द्रपीड़ के कमरे की बत्ती जल रही थी।

थोड़ा हैरान भी हुए।

कौन-सी गम्भीर चिंता लेकर वह अब तक बत्ती जलाकर जाग रहा था ?

पर नहीं, किसी गहरे सोच में डूबे रहने के लिए कोई कमरे की बत्ती जलाकर नहीं रखता। रोशनी मन को विमग्न कर देती है। बाहर की रोशनी मन को भी बाहरी चीज़ों पर खींच लाती है। मन के अन्दर जो अन्तर्मन है वहां तक पहुंचने नहीं देती। इसीलिए तो श्रावणी के कमरे में अंधेरा था।

आज का दिन किस तरह बीत गया, यह श्रावणी नहीं बता सकती क्योंकि उसे कुछ मालूम ही नहीं। लोकमोहन ने उसका अपमान ही किया होगा, नहीं तो और क्या बात हो सकती थी ? अपमान की यंत्रणा से अधिक विस्मय की वेदना श्रावणी को सता रही थी। लोकमोहन आखिर

चाहते क्या थे ?

विधवा लड़की किसी गैर युवक के साथ सहज ढंग से गप-शप करते हुए अंतरंग वनती जा रही थी, किसी भी अभिभावक को यह वुरा लग सकता था। श्रावणी यह जानती थी और वह अभिभावक अगर लड़के के ससुर हों तो क्षमाहीन क्रोध से उनका कठोर होना स्वाभाविक था। पर उस साधारण मानदण्ड से क्या लोकमोहन के स्वच्छन्द विचारों को नापा जा सकता था ?

क्या लोकमोहन श्रावणी को किसी भयंकर परीक्षा में परखना चाहते थे ?

इसका जवाव श्रावणी किससे मांगे ?

लोकमोहन को समझना वहुत मुश्किल है। अंधेरे कमरे में पड़ी मन-ही-मन श्रावणी ने कहा—मैं ठीक नहीं हूं। मैं सुखी नहीं हूं। पर उस दिन तक तो मैं कितनी सुखी थी। उस सामान्य सुख को भी लोकमोहन ने तहस-नहस कर डाला। इससे तो अच्छा होता कि लोकमोहन श्रावणी का अधिक भला चाहते ही नहीं।

श्रावणी का मन विद्रोह से कांप उठा। आखिर क्यों ? लोकमोहन क्यों श्रावणी की इतनी कठोर परीक्षा ले रहे हैं—अपने किस जटिल गणित का हल निकालने के लिए श्रावणी के सामान्य जीवन की शान्ति छीन रहे हैं ? क्या श्रावणी को वे किसी प्रयोग की सामग्री समझ वैठे हैं ?

यह मकान लोकमोहन का है।

विश्वमोहन के साथ उसकी शादी हुई थी, क्या केवल इसी अधिकार से श्रावणी इस घर के आश्रय पर पड़ी रहेगी ? लेकिन सिर्फ़ इतनी ही वात तो नहीं। लोकमोहन के हृदय में भी उसके लिए सारा प्यार भरा है। उस भरोसे का, विश्वास का भी तो कोई वन्धन है। यह वन्धन ही श्रावणी को विद्रोह करने से रोकता रहता है।

श्रावणी का जीवन इतना जटिल क्यों है ?

विश्वमोहन की मृत्यु विना कारण अकस्मात् क्यों हुई ?

विश्वमोहन।

अचानक श्रावणी को लगा वहुत दिन हो गए, उसने विश्वमोहन का

फोटो नहीं देखा है।

ताज्जुब है, ऐसा हुआ कैसे। प्रतिदिन, प्रतिक्षण तो यह फोटो उसके सामने ही रहता है पर सामने रहकर भी वह धीरे-धीरे सामने से हट रहा था।

एकाएक श्रावणी बिस्तर पर उठ बैठी। बत्ती जलायी। विश्वमोहन के फोटो के पास जाकर खड़ी हुई। उदास नयनों से देखकर मन-ही-मन बोली—दूर जाना नहीं हो सकेगा। यहीं रहना पड़ेगा, अलग और स्थिर होकर।

छोटा-सा टेबल, मामूली फर्नीचर से सजा हुआ—यह फ्लैट डॉ० निर्जन सोम का था। फ्लैट में विलासिता की छाप नहीं थी, सुरुचि की छाप थी।

दुमंजिले पर फ्लैट के कमरे से लगे तीन हाथ के बरामदे में फूलों के कई टब रखे हुए थे। उससे बरामदे की सुन्दरता और बढ़ गयी थी। फिलहाल टब के किसी पौधे में फूल नहीं खिले हुए थे, केवल हरी पत्तियों से भरे पड़े थे। डॉ० निर्जन सोम की मां विजया सोम उन फूल-विहीन हरे पौधों की जड़ों में पानी डालती हुई हंसकर बोली—फूल कभी खिलेंगे भी नहीं। जैसा तू है वैसे ही यह पौधे।

निर्जन ने भी हंसकर जवाब दिया—फिर तो, मां, मानना पड़ेगा कि तुम्हारे सोचने की पद्धति में ही कोई कमी रह गयी है।

—कमी? हां, बेटा, यही सोचकर तो चुप बैठी हूं। पर जिनमें कोई पानी नहीं डालता ऐसे पौधों में भी तो फूल खिलते हैं।

—वे सब तो जंगली पौधे होते हैं, मां। मैं क्या तुम्हारा जंगली लड़का हूं?

—और नहीं तो क्या? जंगली भी और डरपोक भी। नहीं तो शादी जैसे मामूली काम करने से भी डरता?

—मामूली है, इसीलिए तो डरता हूं, मां। कोई असामान्या मिल जाए तो फिर निर्भयता से आगे बढ़ जाऊंगा।

—हां, राधा भी नाची और सात मन तेल भी जला? ऐसी दुराशा

मैं नहीं करती।

—अच्छी बात है, मां। तेल न जले। मैं तो मजे में हूं। जमकर खाता-पीता हूं। काम, नाकाम जो समझ में आता है, करता हूं। इस बीच राधा को नचाने की साध तुम्हें ही क्यों है? सात मन तेल जलने के साथ-साथ कहीं तुम्हारा भाग्य भी न जल जाय।

हाथ से पानी का जग ज़मीन पर रखकर सामने पड़ी बेंत की कुर्सी पर बैठकर विजया बोली—इस भाग्य को जला सके ऐसी किसी में हिम्मत नहीं।

—यह तुम्हारी गलत धारणा है, मां। दुनियादारी से तुम अभी अभिज्ञ हो। सामान्या ही आग लगा सकती है, इसलिए तो असामान्या की आशा लगाए बैठा हूं।

विजया हंसकर बोली—एक ही घर में दो असामान्या का रहना भी अच्छा नहीं, निरू। घर छोटा पड़ जाएगा। देख न—एक तो तेरी मां ही एक असामान्या महिला है, उस पर पत्नी भी असाधारण लाया तो···

—असाधारण को तो लाया नहीं जाता, मां। वह स्वयं ही आती है। और घर की सीमा की बात बता रही हो, तो गृहस्थी का अर्थ तो सिर्फ दस फुट बाई बारह फुट के ये दो कमरे नहीं, और न ही शीशे का कोई जग, जो अतिरिक्त मात्रा अपने में नहीं समा सकती। हृदय की परिधि की तो कोई सीमा नहीं, मां। उसे तो चाहने पर अथाह और असीम बनाया जा सकता है।

—सिर्फ़ चाहने पर ही न? विजया जोर से हंस पड़ी—पर वह चाह तुममें होगी कब? और फिर सुना है सास-बहू का रिश्ता बड़ा भयंकर होता है। दोनों ही पक्ष सदा युद्ध के लिए तैयार रहते हैं···

—धत्, मां! कहा न, यह सब तो मामूली लड़कियों का काम है।

—निरू, तू जानता है—घर ही की बिल्ली जंगल में पहुंचकर जंगली बिल्ली बन जाती है। ज़बान से लड़ाई न सही, मानसिक तनाव तो रहेगा ही।

—फिर तो मेरी नीति ही ठीक है, मां। हम मां-बेटे चैन से हैं। खामखा के झमेले से क्या फायदा?

—ऊ हूं! तुम्हारी इस! नीति से मैं सहमत नहीं हूं, बेटे।

—इसका मतलब है मुझे रिस्क लेना पड़ेगा ?

—हां, रे। अब तू लायक बेटे जैसी बातें कर रहा है। बेटे, यह हंसी-मजाक की बात नहीं। अब मुझे घर-बार के काम से छुट्टी लेने की इच्छा हो रही है।

—तो लो न, मां। मैं क्या कोई तुम्हारी राह में बाधा हूं।

—बिलकुल। जब तक तुझे किसी के जिम्मे न सौंप दूं मैं निश्चिंत नहीं हो सकती। तू बड़ा बोझ है, रे।

—बोझ फेंकना चाहोगी और फेंक दोगी, कोई इतना आसान काम थोड़े ही है। तुम्हारे भाग्य में निश्चिंत होना लिखा नहीं है, मां। मेरी तो यही धारणा है। खैर, जाने दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। झटपट खाने को दो।

विजया उठ पड़ी। बोली—बात रखी रही। हार मानकर नहीं छोड़ रही हूं। इस पर फिर बात छेड़ूंगी। पर हां, दुनिया में असाधारण लड़की सुलभ वस्तु नहीं है। सामान्य को असामान्य बनाने का मंत्र भी सीखना पड़ता है।

विजया के चले जाने के बाद निर्जन बेंत की आरामकुर्सी पर हाथ-पैर फैलाकर सो गया और आंखें मूंदकर सोचने लगा—दुनिया में असामान्य लड़की सुलभ नहीं है, यह तो सच है और फिर सुलभ होगी भी क्यों ? पर बिलकुल ही दुर्लभ है, ऐसी भी कोई बात नहीं। उस दिन लोकमोहन के घर एक बार एक ही क्षण के लिए देखने पर भी उसे ऐसा नहीं लगा था कि यही वह है जिसकी रचना वह अपने मन के एकान्त में इतने दिनों से करता आया है ?

विष्टु आकर बोला—भाभीजी, गेस्ट बाबू कहां गये हैं ? गेस्ट बाबू अर्थात् चन्द्रपीड़। चन्द्रपीड़ कहां है, इसका पता करने विष्टु श्रावणी के पास क्यों आया है ?

अकारण अपमान से श्रावणी का चेहरा लाल हो उठा। यह निर्दोष प्रश्न क्या नितांत ही निर्दोष था ? कल चाय की टेबल पर श्रावणी और चन्द्रपीड़ की हंसी पर लोकमोहन ने जो कटाक्ष किया था, क्या वह विष्टु

जूतों पर ही बैठा-बैठा पालिश लगाऊं! विष्टु नाराज होकर अपने काले मुंह को लाल बनाकर बोला---आपने ठीक ही याद दिलाया भाभीजी कि विष्टु सिर्फ जूते झाड़ने वाला नौकर ही तो है। बड़ी बातों में उसे माथा-पच्ची करने की क्या जरूरत। पर क्या करें? माथा-पच्ची करने की शायद जरूरत ही नहीं पड़ती अगर उसका माथा इस घर के लिए बिका न होता। अभी चुप रहने पर बाद में तो इसी विष्टु को जवाब देना पड़ेगा कि घर का अतिथि बिना खाए-पिए सुबह-सुबह ही कहां हवा हो गया और मैंने मालिक को समय पर सूचित क्यों नहीं किया।

श्रावणी जाते-जाते रुक गयी। विष्टु की इस ढिठायी पर भी वह मौन ही रही। इसी क्षण क्या श्रावणी विष्टु की छुट्टी कर देगी? कहेगी—मालिक के साथ कैसे बातें की जाती हैं इतनी सूझ-समझ जिसको नहीं, वह इस घर में काम करने लायक नहीं।

पर श्रावणी कुछ न कह सकी। किसका घर? किस घर से वह किसे निकाल सकती है? जिसे अपने ही अधिकार पर सन्देह है, वह किस हिम्मत से दूसरों को घर से निकालने का आदेश दे सकती है? इस घर में श्रावणी का क्या अधिकार है?

कभी विश्वमोहन नाम का इस घर का एक लड़का श्रावणी का हाथ पकड़कर इस घर में लाया था---अग्नि को साक्षी मानकर बहुत-सी कसमें लेकर और आश्वासन देकर विवाह के मंत्र पढ़कर यहां लाया था---केवल उसी अधिकार के बल पर? और वही तो फिर सारी कसमों और आश्वासनों को झूठा कर अनायास श्रावणी के हाथ के बंधन ढीले कर उसे इस संसार में अकेला छोड़कर चला गया था। श्रावणी फिर क्यों उसी को आलम्बन मानकर इस घर के एक ऊंचे ओहदे पर बैठी थी? इस झूठे अधिकार की गद्दी पर बैठकर दूसरे को निकाल बाहर करने पर सारी दुनिया उस पर हंसेगी नहीं? लोकमोहन ने श्रावणी को बहुत ऊंचे आसन पर बैठाकर रख रखा था। पर यह तो उनकी करुणा थी। उसकी कीमत ही कितनी थी? करुणा से दिया गया अधिकार कितना खोखला था---यह तो अभी-अभी स्पष्ट हो गया था जब लोकमोहन के एक वाक्य ने यह साबित कर दिया कि श्रावणी का घर में सही स्थान क्या है?

फिर लोकमोहन के नौकर को निकालने का अधिकार भी तो श्रावणी को नहीं है—चाहे वह नौकर कितना ही उद्दंड क्यों न हो। इसलिए श्रावणी चुपचाप वहां से हट गयी।

पर चन्द्रपीड़ गया कहां? क्या वह सच में ही चला गया?

शायद लोकमोहन का कल का व्यवहार उसे भी बुरा लगा और उसने चले जाने में ही अपना सम्मान समझा।

पर श्रावणी को बिना कुछ कहे इस तरह से चले जाने की जरूरत क्या थी? कहकर जाता तो उसका क्या बिगड़ता? पर चन्द्रपीड़ तो पराया था। उस पर किसी रिश्ते का कोई बन्धन तो था नहीं। क्या इसीलिए वह चला गया? स्नेह, श्रद्धा, प्रीति—सब-कुछ के ऊपर स्वाभिमान है? शायद यही स्वाभाविक भी है। पर जो एक झूठे सपने के बन्धन से जकड़ा हुआ था, उसे मुक्ति कैसे मिलेगी? मुक्ति की चिन्ता में मन अनजाने में बन्धन की चौहद्दी में घूमता रहा।

अनादि ने क्या सच कहा था कि चन्द्रपीड़ हमेशा के लिए चला गया।

पर वह चिट्ठी किसके नाम लिखकर गया? अनादि के? पर वह श्रावणी को बताकर क्यों नहीं गया? अचानक श्रावणी की आंखें छलछला उठीं। कल सुबह ही चाय की टेबल पर चन्द्रपीड़ ने पूछा था—आप मुगलई पराठें नहीं बना सकतीं, दीदी? अच्छा, आप सामान इकट्ठा कीजिए। बनाना मैं सिखा दूंगा। खास जापानी मुगलई पराठें बनाकर आपको खुश कर दूंगा।

आज सुबह नाश्ते में श्रावणी ने उसका इन्तज़ाम भी किया था पर इसी बीच बिष्टु ने आकर यह समाचार सुनाया। आंखों की कोर आंसुओं की धार से धुल गयी—कम-से-कम नाश्ता तो कर जाता।

अनुसूया बोली—अनादि! जा, पुरोहित के घर सवा रुपए का प्रसाद चढ़ाने के लिए दे आ। मैंने मन्नत मानी थी।

—कैसी मन्नत, मामी?

—तुझे जानने की क्या जरूरत? डांट लगाकर भी अनुसूया के मुंह

से निकल ही गया—वह छोकरा घर से विदा हो जाय इसकी मन्नत।

—अच्छा मामी, तुम्हारे भगवान तो बड़ी कम घूस से संतुष्ट हो जाते हैं। दो बतासों के लालच में ही तुम्हारी बात मान ली।

अनुसूया उत्तेजित होकर बोली—तू भी मुझसे मजाक करता है, अनादि! बिस्तर पर पड़ी हूं इसलिए घर में कहां क्या हो रहा है मुझे मालूम ही नहीं चलता? तू समझता क्या है? लग रहा था कि गृहस्थी में आग लग चुकी है। जो सब नहीं होना चाहिए था, वह हो रहा था। असहाय पड़ी देख रही थी कि कैसे शैतान ने गृहस्थी में बासा बांध रखा है। मान-सम्मान, सभ्यता, धर्म—सब-कुछ वह शैतान कुरेद-कुरेदकर खा रहा है।

—वैसे लड़का बुरा नहीं था—संकोच छोड़कर अनादि बोला। अनुसूया द्वारा चन्द्रपीड़ को शैतान कहना उसे कुछ अच्छा नहीं लगा। उसके विवेक पर चोट पहुंची। पर अनुसूया अनादि को धमकाकर बोली—तू चुप रह। बुरा नहीं था! बुरा नहीं होता तो विधवा के साथ इतनी मसखरी करता। भगवान की अनन्त दया है कि खानदान के मुंह पर कालिख नहीं पुती।

—परन्तु···हंसकर अनादि बोला—तुम्हारे भगवान की महिमा आखिर कब तक रहेगी, जब खानदान के मालिक ने ही कालिख पोतने का प्रण कर लिया है।

—यह बात तू मुझे क्या समझाएगा, अनादि? मैं क्या नहीं समझती! उनका प्रश्रय नहीं रहता तो क्या अभागिन की इतनी हिम्मत होती? जिन्दा लाश बनकर पड़ी हूं। शासन नहीं कर सकती, कोई उपचार नहीं कर सकती। बिस्तर में पड़ी-पड़ी सिर्फ़ भगवान को पुकारती हूं। कहती हूं—हे भगवान! अगर उन लोगों को नहीं संभाल सकता तो मुझे ही उठा ले ताकि मैं कुछ न देख सकूं। भगवान ने मेरी बात सुन ली। अब डरने की कोई बात नहीं। शैतान तो विदा हो गया है।

अनादि बोला—पर उससे क्या होता है? इसके साथ ही मामाजी के अजीब खयाल तो विदा नहीं हो गए। बाबा! कितना अजीब विचार है। विधवा लड़की की शादी की बात तो समझ में आती है पर विधवा पुत्रवधू के विवाह की बात तो सात जन्म में नहीं सुनी। मानता हूं कि

विद्या-बुद्धि सब-कुछ है, रूप भी परी जैसा है, लेकिन इसके लिए···

---बस कर, अनादि ! यही रूप तो उसका काल है। तूने वह कहावत नहीं सुनी---अति सुन्दरी को वर नहीं मिलता। तेरे मामा तो उसका यह सर्वनाशी रूप देखकर ही सब-कुछ भूल बैठे थे। थोड़ी देर के लिए अनुसूया चुप बैठी रही। श्रावणी का रूप देखकर वह स्वयं भी तो मोहित हो गयी थी। केवल लोकमोहन ही हुए थे, ऐसी बात तो थी नहीं। यह सोचकर सम्भवत: वह चुप रही। बिस्तर पर लुढ़क पड़ी। फिर करवट बदलकर बोली---तू जा अनादि, प्रसाद चढ़ाने का इन्तज़ाम कर।

चिल्ला-चिल्लाकर रोने का कोई बहाना नहीं था, इसीलिए शायद अनुसूया निर्जीव की भांति चुप पड़ी रही। चिल्लाकर रोना इस घर में अभद्र आचरण माना जाता था। जिनकी छाती टूट-टूटकर टुकड़े बन गयी है, सभ्यता को बनाए रखने के लिए उसे भी चुप ही रहना पड़ेगा---अजीब नियम था।

अनुसूया अगर और दस-पांच की तरह होती, उठकर चल-फिर सकती, तो क्या उसे इतनी यंत्रणा सहनी पड़ती ? स्वास्थ्य के अहं से जो दुनिया को तुच्छ समझता था, वह अनुसूया की व्यथा और शारीरिक असहायता को क्या समझता ? नहीं। लोकमोहन यह कभी नहीं समझ सकते और न ही वह सर्वनाशी लड़की। शादी को एक साल भी पूरा नहीं हुआ कि वह सब-कुछ खो बैठी पर घिसी रत्ती भर भी नहीं। आंखें झुलस जाती हैं उसके ताजे शरीर को देखकर। अनुसूया को सारा जीवन बिस्तर में ही पड़कर गुजारना पड़ेगा। और बिस्तर पर पड़े-पड़े टुकुर-टुकुर देखना पड़ेगा उसके रूप की गरिमा और स्वास्थ्य का अहंकार।

मन्नत मानने के बाद ही लोकमोहन की मति सुधरी थी, इसलिए काली बाड़ी में भी प्रसाद भेजा गया। भगवान करे फिर कोई ऐसी कुमति लोकमोहन के मन में न आए।

चन्द्रपीड़ लोकमोहन को चिट्ठी लिखकर चला गया, अनादि से अनुसूया यह सुन चुकी थी। पर लोकमोहन तो बिलकुल चुप्पी साधे हुए थे। तो वे क्या कभी कुछ नहीं बताएंगे ? पर सिर्फ लोकमोहन ही क्यों, चन्द्रपीड़ की बात पर तो घर के सारे सदस्य---यहां तक कि नौकर-चाकर

भी चुप थे जैसे इस घर की दीवार के चप्पे-चप्पे पर अनुशासन की यह नोटिस टंग गयी हो — यहां कोई भी चन्द्रपीड़ का नाम नहीं लेगा।

पर वार-वार सभी की सन्देहात्मक दृष्टि श्रावणी को ही घूर रही थी जैसे चन्द्रपीड़ के इस तरह एकाएक चले जाने में श्रावणी की कोई वड़ी भूमिका रही हो।

श्रावणी स्वयं मूक वन गयी थी। चन्द्रपीड़ नाम के किसी एक व्यक्ति ने उमस भरे इस घर को कुछ दिनों के लिए हलकी और स्वच्छ हवा से भर दिया था—श्रावणी इस वात को भी भूलती जा रही थी।

पर मन-ही-मन वह एक यंत्रणा से घुट रही थी। वार-वार इच्छा हो रही थी एक वार उसे वुलाकर पूछे—क्या वात थी चन्द्रपीड़ कि इस तरह एकाएक चले गए ? ऐसी भी क्या वात है जो कह नहीं सकते ?

लोकमोहन को उसने क्या लिखा था—लोकमोहन ने किसी को कुछ नहीं वताया। दु:ख तो इस वात का भी था। अवश्य लोकमोहन ने कोई ऐसी भयंकर वात कही होगी जिसे सुनकर चन्द्रपीड़ का उज्ज्वल चेहरा अपमान से काला पड़ गया होगा।

क्या यह कालिख किसी के स्नेह से नहीं मिट सकती ? पर क्या ऐसा मौका कभी आएगा भी ? इस तरह से जो चला जाता है वह फिर दुवारा कैसे आ सकता है ?

क्या श्रावणी को उसे एक पत्र लिखना चाहिए ? एक गैर पुरुष को चिट्ठी लिखने के अपराध में कोई उसे आंखें दिखाएगा, अभिभावक वाणी से अंगारे वरसाएंगे ? ऐसा भी हो सकता है कि कोई कुछ भी न कहे, कोई कैफियत नहीं मांगे। फिर भी···?

श्रावणी लोकमोहन को समझ नहीं पा रही थी। वह हैरान थी। वह सोचती—आखिर लोकमोहन सहसा इतने वदल क्यों गए ? उनकी उदारता क्या कोई छल था ? अथवा सतही उदारता को रूढ़िवाद और संस्कारों ने ढक दिया था ?

लोकमोहन की सुवुद्धि ने कहा होगा—तरुणी विधवा को खर्चे के खाते में मत डाल दो। उसके जीवन के दरवाज़ों को फिर से खोल दो, उसे रोशनी दो, जीवन में फिर से प्रतिष्ठित होने का अवसर दो। पर संस्कार

किसी को यहां आने की जरूरत नहीं। पर जब तक रहेगी' का क्या अर्थ ? वह तो हमेशा ही रहेगी। अनुसूया के मर जाने के बाद भी रहेगी। इस घर के सब-कुछ पर राज करेगी, मनमानी करेगी। उफ! कैसी दुःसह यातना थी यह। उसे इस गृहस्थी में कैद न रख सकने पर चैन नहीं और उसकी उपस्थिति भी असहनीय।

डा० निर्जन सोम हंसकर बोला—आप तो मेरे साथ पूर्ण असहयोग कर रही हैं। कैसी हैं, यह तो बताइये।

—कहा तो। अनुसूया उसी झंकार से बोली—अच्छी हूं। भयंकर रूप से अच्छी हूं।

—यह तो आप गुस्से में कह रही हैं। डाक्टर सोम बोला। डाक्टर को जवाब न देकर अनुसूया अनादि से बोली—अजीब झंझट है। क्या तुम लोगों ने मुझे चैन से न बैठने देने की कसम खायी है ? हजार बार तो कह रही हूं कि मैं बहुत अच्छी हूं। मुझे अब डाक्टर की कोई जरूरत नहीं।

डाक्टर की आंखों में यह सब कोई नई बात नहीं थी। अधिक दिनों तक बीमार रहने पर हिस्टीरिया के मरीज जैसा व्यवहार करना एक आम बात थी। इसलिए हंसकर वह बोला—आपको जरूरत नहीं, पर मुझे तो है।

अनुसूया झल्लाकर बोली—जानती हूं, डाक्टर। निर्लज्ज की तरह जाहिर करने की जरूरत नहीं। समझे न ? फिर उत्तेजना से उठ बैठी। बोली—इस घर में तुम्हें बहुत तरह की जरूरतें हैं, यह मैं जानती हूं। अनादि से बोली—डाक्टर को कह दे कि बाकी जरूरतें भी पूरी करने की उम्मीद वह छोड़ दे। और उन्हें जाकर कह आ कि डाक्टर के महीने भर का हिसाब उनके घर भिजवा दें। कम से कम रुपए की जरूरत तो मिटे।

पागल और बीमार औरत की बात कौन मन में लेता ही है, फिर भी डाक्टर का चेहरा लाल हो उठा। वह अनजाने में ही बैग लेकर उठ खड़ा हुआ। बोला—अच्छा, अनादि बाबू, आज रहने दीजिए। किसी वजह से आज ये अधिक विचलित हैं।

अपमान से दिमाग सुन्न हो रहा था डा० निर्जन सोम का, फिर भी

दोनों ही एक-दूसरे को हाथ जोड़कर 'नमस्ते' कहते। बस। श्रावणी ने उसे बुलाया कभी नहीं। आज भी तो बुलाकर ही चुप हो गई थी। थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद निर्जन बोला—बोलिए, क्या कहना चाहती हैं ?

इस बार श्रावणी ने हंसकर उसे एक नजर देखा, फिर बोली—कृपा कर मेरा एक काम कर दीजिएगा ? अपलक श्रावणी को देखकर, आंखें नीची कर निर्जन बोला—'कृपा' शब्द को 'कृपया' कर छोड़ ही दीजिए। कहिए, मैं आपके क्या काम आ सकता हूं ?

—एक लड़के का···। फिर थोड़ा रुककर श्रावणी बोली—माने एक सज्जन का थोड़ा पता कर दीजिए तो मेरा बड़ा उपकार होगा।

—देने का कोई सवाल नहीं। केवल यह कहिए कि पता' करने का मैं सही में क्या अर्थ लगाऊं ?

श्रावणी चौंक उठी—बात तो सच थी। वह किस चीज़ का पता चाहती थी ? चन्द्रपीड़ क्या सचमुच कहीं खो गया था ? वह सिर्फ इस घर से ही तो गया था। उसका अपना कोई न कोई होगा ही। अपना कारखाना भी था।

श्रावणी बोली—उनका पता मुझे ठीक से मालूम नहीं है। पर चिट्ठी लिखना भी जरूरी है इसलिए। सोच रही थी कि किसी तरह की कोशिश से यदि···पर यह क्या संभव हो सकेगा ? आरती के दीप की भांति श्रावणी ने अपनी आंखें उठायीं।

इस दृष्टि के सामने कोई कह भी क्या सकता था ? यही कि—नहीं, यह काम असंभव है। इसीलिए निर्जन भी अवरुद्ध स्वर में बोला—पता करने के लिए आपको कुछ तो मालूम होगा ?

—हां। सुरेन एवेन्यू में, एक सौ पता नहीं कितने नम्बर के मकान में उनके रिश्तेदार रहते हैं और आगरपाड़ा में कारखाना भी है।

—कारखाना ? निर्जन ने अचरज के साथ पूछा।

श्रावणी बोली—खिलौने बनाने का एक कारखाना खोला है उन्होंने। जापान से सीखकर आए थे।

—जापान से ? निर्जन चौंक उठा—तो फिर···अनादि के इशारे और

उपस्थिति की वह सजीवता अब भी थी ? इस कमरे की प्रत्येक वस्तु पर विश्वमोहन की छाप उसके गुजरने के कई दिनों बाद तक भी थी जो श्रावणी के मन को विषन्न और उदास बना देती थी। क्या वह सजीवता अब नहीं रही थी ? श्रावणी व्यथा की वेदना को भूलती जा रही थी, यह देखकर क्या बुकशेल्फ पर पड़े विश्वमोहन के फोटो की आंखों में व्यंग्य की हंसी झलक रही थी ? कुछ भी नहीं। उस फोटो की दृष्टि भी मृत विश्वमोहन की ही तरह निष्प्राण, निर्जीव थी। खुले रखे चश्मे के शीशों पर धूल की मोटी परत जम चुकी थी।

फिर भी श्रावणी इसी कमरे में आकर बैठती थी। विश्वमोहन की छांह में उसी की छाया से मन ही मन पूछती—मेरी शक्ति खत्म होरही है। मैं अब क्या करूं, बोलो? मेरा प्रेम, विश्वास झूठा तो नहीं था। फिर ?

डाक्टर सोम का चेहरा बार-बार श्रावणी की आंखों के सामने छा जाता था।

—न जाने उन्होंने मेरे बारे में क्या सोचा ? मेरी बात को मानकर क्या वे सचमुच चन्द्रपीड़ की खोज-खबर लेंगे ? क्या पता ? पर शिशु-से सरल, प्रसन्न-चित्त और स्वाभिमानी उस आदमी को खोकर श्रावणी निश्चित भी कैसे रह सकती थी।

दूसरे ही दिन डा० निर्जन आया। भेंट भी हुई। निर्जन को एकाएक अनुसूया की कही उस दिन की उपमा याद आ गयी। सच में, लड़की में ताजापन था। इस चेहरे की कच्चे फल से तुलना की जा सकती थी। आंखों की पलकें भी कितनी कोमल ! वह आखिर देख भी कितनी देर पाता था। पलक भर का ही तो देखना।

सिर झुकाकर ही निर्जन बोला—उनसे भेंट करना संभव नहीं हो सका।

आज वह डाक्टरी जामे में नहीं आया था, साधारण धोती-कुर्त्ते में आया था।

—भेंट नहीं हो सकी ? श्रावणी ने निराश होकर पूछा—मुझे भी यही आशंका थी। मकान नहीं मिला होगा ?

आशंका तो श्रावणी को पहले से ही थी। सही पता मालूम भी नहीं

था। चन्द्रपीड़ से उसने कभी एक किताव ली थी पढ़ने के लिए। उसी किताव पर उसका नाम और पता लिखा था। वह पता अपनी डायरी में नोट करके रखना चाहिए—ऐसी वात श्रावणी के दिमाग में कभी नहीं आयी थी। कई दिन पहले एक नजर देखे उस पते पर भरोसा करके ही उसने निर्जन को चन्द्रपीड़ का पता ढूंढ निकालने के लिए कहा था।

निर्जन बोला—मकान तो मिल गया, पर वे लोग कलकत्ता में नहीं हैं। कहीं वाहर गए हुए हैं।

—वाहर? कव? कहां? श्रावणी मानो निर्जन से नहीं, अपने ही मन से पूछ रही थी।

—उनके घरवालों ने कहा, इन दिनों तो वे घर पर रहते भी नहीं थे। कई दिन पहले एक वार आए और उसके दूसरे ही दिन कहीं वाहर चले गए। कहां गए, यह वे लोग नहीं वता सके।

—और आगरपाड़ा के···

वार-वार प्रश्न करने में श्रावणी शरमा रही थी। पर न मालूम किस अधिकार में वह बिना पूछे निर्जन को रिहाई भी नहीं दे पा रही थी।

—आगरपाड़ा में भी वे नहीं मिले। निर्जन वोला—वहां के लोगोंने वताया कि कई दिन पहले उन्होंने जापान वापस चले जाने की इच्छा व्यक्त की थी। मैनेजर को कारखाने के विषय में कुछ निर्देश भी दे गये।

—जापान चला गया है? श्रावणी का स्वर निराशा से टूट गया। श्रावणी की यह निराशा निर्जन को कहीं छू गयी। पलभर के लिए उसका चेहरा कठोर हो उठा। वोला—अभी तक गए नहीं हैं। संभवत: दिल्ली में हैं। वहां से लौटकर कारखाने की व्यवस्था कर फिर जाएंगे।

—तव तो एक वार आएगा ही। कव?

—कव, यह तो कोई नहीं वता सका। पर आप निश्चित रहिए। मैं हर रोज़ खवर लेता रहूंगा।

—नहीं-नहीं। यह भी कोई संभव वात है। व्यर्थ की चेष्टा करने से कोई फायदा नहीं। जो जान-बूझकर दूर रहना चाहता है उससे मिलना विडम्बना ही तो है।

—फिर तो मुझे यही मान लेना होगा कि मैं आपके किसी काम नहीं

आ सका।

—आप कर भी क्या सकते हैं ? जो नहीं है, उसे कोई कहां से ले आएगा ? श्रावणी का कहना क्या पूर्णतः सही था ?

जो नहीं है उसे पाना मुश्किल है। पर जो एक गज की दूरी पर खड़ा था क्या उसको पाया जा सकता था ?

पाना तो दूर की बात है। उसे क्या कुछ कहा भी जा सकता था ? जो बात मन में गूंजती रहती थी—ऐसी कोई बात। अगर कहना आसान होता तो निर्जन सोम कहना—कितनी सुन्दर हो तुम, कितनी अपूर्व।

और श्रावणी भी आंखें नीची कर बोलती—और तुम ? तुम सुन्दर हो या नहीं, नहीं जानती; पर तुम भी अपूर्व हो। मैं तो यही जानती हूं तुम मुझे पसंद हो। तुम्हें देखने के लिए मैं हर पल तरसती हूं। तुम्हारे आने की आशा में एक-एक पल गिनती हूं।

पर यह सब-कुछ भी कहीं कहा जा सकता था ? सिर्फ 'नमस्ते' कह-कर अपने कमरे में लौटा ही जा सकता था।

निर्जन को चन्द्रपीड़ से ईर्ष्या हो रही थी। जिस व्यक्ति के लिए श्रावणी की बड़ी-बड़ी आंखें उद्वेग और उत्कंठा से भरी रहतीं, जिसके सुगठित होंठों पर वेदना का आभास होता, जिसकी खोज में उसके वक्षस्थल में वेदना थी—ऐसे भाग्यवान से निर्जन बिना ईर्ष्या किए कैसे रह सकता था !

फिर भी उसे इच्छा होती कि वह चन्द्रपीड़ को कहीं से भी ढूंढ लाये। लाकर बोले—लो अपने चहेते को। अपने आकांक्षित प्रिय जन को। निर्जन के परिश्रम की सार्थकता तो उसी में थी।

पर न जाने क्यों चन्द्रपीड़ एक रहस्य ही बना हुआ था। अगर किसी दिन उसे निर्जन श्रावणी के पास ला सके तो क्या वह सामाजिक अपराध करेगा ? निर्जन को तो यह मालूम है कि श्रावणी लोकमोहन की विधवा पुत्र-वधू है।

अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित—सभी द्वन्द्व में बह जाते। ममता से उसका मन थिर उठता।

उस असहाय सुकुमार नारी ने एकान्त रूप से अपने मन को उसके पास खोला था, उस पर विश्वास किया था, सहायता की याचना की थी।

यह भी तो एक स्वाद था जीवन का।

ईर्ष्या और ममता आपस में विरोधी ये दो अनुभूतियां निर्जन के शांत• संयत चित्त को अनमना बना देतीं। अनादि के मुंह से कई बार वह चन्द्रपीड़ के बारे में सुन चुका था पर उस समय तक तो उसे उसकी कीमत ही नहीं मालूम थी, नहीं तो जी भरकर एक बार तो देख ही लेता। लेकिन वह चला क्यों गया? किसी भय या लज्जा से? या उचित और अनुचित के द्वन्द्व से? या फिर लांछित और तिरस्कृत होकर?

बेचारा डा० निर्जन सोम—शांत, सौम्य आदमी। उसके हृदय में सहसा यह कैसी उथल-पुथल? प्रश्नों से वह अपने आपको ही जर्जरित कर रहा था।

बहुत दिनों के बाद इस घर में डा० मजूमदार आए। अनुसूया के हृदय का कष्ट बढ़ गया था। उसे देखकर बाहर की बैठक में आकर बैठे जहां लोकमोहन निर्लिप्त भाव से बैठकर किताब पढ़ रहे थे। डाक्टर को देखकर किताब बन्द कर बोले—अरे मजूमदार, तुम? क्या हाल है? बहुत दिनों के बाद देख रहा हूं। घर में नया किसी को कुछ हुआ है क्या?

—बहुत दिनों से नहीं आ सका था। डा० सोम से मिसेज गुप्ता की रिपोर्ट मिल ही जाती थी।

—मिसेज गुप्ता? ओ, आई सी। अभी भी बीमार है क्या? विस्मय से लोकमोहन ने पूछा।

—देखिए, मि० गुप्ता। डा० मजूमदार गंभीर होकर बोले—अगर आप बुरा नहीं मानें तो एक बात कहूं। आपकी यह हृदयहीनता ही मिसेज गुप्ता की बीमारी का कारण है।

—तो यह बात है? मानो किसी आविष्कार की खुशी से उछलकर वे बोले—फिर तो तुम्हें यह पहले बताना चाहिए था, डाक्टर। तुमने तो

कभी कहा नहीं ?

—कहने से फायदा क्या ? कुछ उपचार करते ? डाक्टर ने आवेश में कहा।

लोकमोहन इस आवेश को अनदेखा कर बोला—उपचार नहीं करता? क्या कह रहे हो, डाक्टर ! इस भद्र महिला के लिए। डाक्टर और दवा के पीछे तो अव तक कुछ कम खर्च नहीं हुआ है। उसके वदले अपने मन को थोड़ा नरम कर लेता तो दवा के रुपये वैंक में जमा हो जाते।

—आपके साथ वातें वढ़ाने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है, मि० गुप्ता। फिर भी कहे विना नहीं रह सकता कि आपकी यह निष्ठुरता मेरे लिए एक रहस्य ही है। मैं हैरान रह जाता हूं क्योंकि असल में तो आप इतने कठोर और हृदयहीन नही हैं। मैंने आपके हृदय की कोमलता और असाधारण ममता को भी देखा है।

—नहीं, डाक्टर ! तुमने कुछ भी नहीं देखा। तुम लोग तो सिर्फ मनुष्य के शरीर में कितनी हड्डियां, कितना सेर खून, कितने द्रव्य पदार्थ और कितनी गज की शिरा-उपशिराएं हैं यही वता सकते हो। इसके अलावा और कहां क्या है, वता सकोगे ? हृदयहीनता, असाधारण ममता आदि वड़े-वड़े साहित्यिक शब्द इस्तेमाल कर रहे हो—कभी हृदय नामक वस्तु को देखा भी है ? वता सकते हो उसका वजन कितना है ? कितना पानी और कितनी आग रहती है उसमें ? ज्यादा वड़ाई मत करो, डाक्टर ! तुम लोगों ने कुछ भी नहीं देखा और न ही कुछ जानते हो।

डा० मजूमदार यों ही किताव के पन्ने पलट रहे थे और वहुत दिन पहले की तरह सोच रहे थे—चिकित्सा असल में किसकी होनी चाहिए—मिसेज या मि० गुप्ता की ?

लोकमोहन केवल इतनी वातें सिर्फ इसी डा० मजूमदार से करते। मजूमदार उनके सुख-दुःख का साथी रहा था। वाहर चाहे कितनी भी प्रतिष्ठा या यश हो, पर लोकमोहन के लिए डा० मजूमदार पुराने दोस्त के समान ही थे। लोकमोहन के प्रति उन्हें प्यार था, श्रद्धा थी। इसीलिए लोकमोहन की झल्लाहट भी वे विनम्रता से वर्दाश्त कर लेते।

अचानक लोकमोहन एक अप्रासंगिक वात वोल पड़े। वोले—डाक्टर,

तुम्हारा वह असिस्टेंट छोकरा···क्या नाम है उसका, कैसा लड़का है ?

डा० मजूमदार बोले—सोम के लिए कह रहे हो। वेरी इन्टेलीजेंट। मैं तो जटिल से जटिल केस भी उसके हाथ में सौंपने से नहीं घबराता।

—आह ! तुम्हारे केस के बारे में कौन पूछ रहा है ? मैं पूछना चाहता हूं उसका स्वभाव और चरित्र कैसा है ? किसी भद्र परिवार के अन्दर आने-जाने दिया जा सकता है ?

—आप क्या कह रहे हैं, मि० गुप्ता ! उत्तेजना में डाक्टर मजूमदार कुर्सी से उठ खड़े हुए।

लोकमोहन बोले—इतने उत्तेजित क्यों हो रहे हो, डाक्टर ? मैं उसे बदनाम थोड़े ही कर रहा हूं। परिवार के अन्दर आता-जाता है। देख रहा हूं बहू से दोस्ती भी है इसलिए जानना चाहता था। घर का स्वामी हूं, एक दायित्व तो सिर पर है न ?

डा० बोले—आप जब अपनी बहू का फिर से विवाह ही करना चाहते हैं, तब ऐसा प्रश्न पूछने का उद्देश्य ही क्या है ?

—तुम भी अजीब आदमी ठहरे। विवाह अगर करूंगा तो किसी अच्छे लायक लड़के से ही करूंगा। जैसे-तैसे लड़के से मेल-मिलाप क्यों करने दूं ?

—मैंने डा० सोम को इस घर में एक डाक्टर की हैसियत से ही भेजा था, मि० गुप्ता—पात्र के रूप में नहीं। मिसेज गुप्ता की चिकित्सा में कोई त्रुटि रही हो तो कहिएगा, मैं ही आया करूंगा। क्षुब्ध होकर डा० मजूमदार बोले।

—तुम तो खामखा नाराज हो रहे हो, डाक्टर। लोकमोहन बोले—मैं तो थोड़ी यों ही जांच-परख कर रहा था कि लड़का काम आ सकता है या नहीं। तुमसे तो इतना भी नहीं हुआ।

—मुझसे क्या नहीं हो सका, बोलिए मि० गुप्ता ?

—वही मिसेज गुप्ता की यंत्रणा की समाप्ति। छोकरा यदि उनकी सारी तकलीफें हमेशा के लिए मिटा सकता···

—मि० गुप्ता ! आर्तनाद कर उठे डा० मजूमदार—कल से आप किसी दूसरे डाक्टर की व्यवस्था कर लीजिएगा। मुझे रिहाई दीजिए।

—तुम्हें रिहाई कैसे मिल सकती है, डाक्टर ? मुझे मारने के पहले ही खिसकना चाहते हो। मैं तो कहना चाहता था कि तुम ही···पर सुनते ही मुझे कसाई कहोगे, शैतान कहोगे। लेकिन डाक्टर, वता सकते हो कि चिररुग्णा, मानसिक व्याधि से ग्रस्त किसी को अनन्त समय तक जीने का अधिकार ही क्या है ?

खिड़की को खोलने में काफी ज़ोर लगा। चिटकनी में जंग लग गया था। कितने दिनों से वन्द थी यह खिड़की ? खोलने के साथ-साथ एक धक्का-सा लगा और जैसे ही पल्ला खुला, श्रावणी को लगा, कितने दिनों वाद कमरे में वाहर की थोड़ी रोशनी आयी। तेईस महीनों से यह खिड़की यों ही वन्द पड़ी थी।

श्रावणी सोचने लगी—विश्वमोहन की मृत्यु के वाद कभी भी किसी जरूरत से डवल-वेड के सिरहाने की यह खिड़की खोली गयी थी या नहीं। नहीं, शायद कभी भी नहीं।

इस कमरे में कोई आता-जाता भी नहीं था। रिश्तेदार जो भी आते, अनुसूया के ही कमरे में जाते। उसे दुःख में सान्त्वना देते। पितृ-कुल, मातृ-कुल, ससुर-कुल—सभी के लोग अनुसूया को ही जानते।

श्रावणी थी भी कितने दिनों की ?

उसे ठीक से कब किसने पहचाना ही था ? किसने पहचानना चाहा भी ? कुलक्षणी श्रावणी को एक नजर देखकर ही लोग दूर चले जाते। श्रावणी में लोग हज़ार दोप देखते। श्रावणी खान-पान का विचार नहीं करती। विधवा का आचरण नहीं मानती। सिर पर आंचल दिए विना पराए पुरुषों से वातें करती। फिर कौन-सी ससुराल वाले ऐसी वहू को अच्छी नजर से देखते ? इसलिए जब घर में कोई भी आता, तो श्रावणी पैर छूकर उन लोगों के लिए नाश्ते-पानी का इन्तज़ाम करने चली जाती।

इसलिए श्रावणी के कमरे में किसी के पैर नहीं पड़ते। दिन में दो वार सिर्फ विष्टु आकर झाड़-पोंछ करता और दरवाजा भिड़ाकर चला जाता।

श्रावणी आधी रोशनी, आधे छांव भरे कमरे में आकर वैठी रहती। इस खिड़की को खोलने की वात उसे भी कभी याद ही नहीं आयी थी।

आज क्यों आयी, यह वह नहीं बता सकती। उसे लग रहा था, कमरे में बड़ा अंधेरा-सा है। हवा भारी हो रही थी, पंखे की हवा भी दीवारों से टकराकर गरम हो उठी थी। तब अचानक ही उसे याद आया कि वह खिड़की बन्द क्यों पड़ी थी? कितने दिनों से? खिड़की खोली तो धक्के से हाथ में चोट भी लग गई। पर सारा कमरा एकाएक रोशनी से भर गया।

शानदार मकान था लोकमोहन का। बड़ी-बड़ी खिड़कियां थीं। खिड़की का पल्ला खुलते ही सारा आकाश दिखाई पड़ता।

इस खिड़की के ठीक नीचे बड़ी चौड़ी सड़क थी। गाड़ियों का अविराम आवागमन और लोगों की भीड़ ने एकाएक श्रावणी की अनभ्यस्त आंखों को धुंधला कर दिया। अभ्यास तो छूट ही गया था। दुनिया में सड़क नाम की कोई चीज़ भी है, यह बात श्रावणी को पिछले तेईस महीनों से याद ही नहीं थी। पर दोष तो श्रावणी का ही था। तेईस महीनों के पहले के एक-दो महीनों तक लोकमोहन ने श्रावणी से बहुत अनुरोध किया था कि वह खुली हवा में थोड़ा घूम-फिर ले। खुद अपने साथ चलने का अनुरोध किया था, गाड़ी निकालकर घंटों प्रतीक्षा में बैठे भी रहे थे। पर हर बार श्रावणी माफी मांगकर चली आती। बोलती—मुझे माफ कीजियेगा, तबीयत ठीक नहीं है। सिर में दर्द है। कुछ काम है। इस तरह वह हज़ारों बहाने बना देती।

इसके अलावा वह और कर भी क्या सकती थी। घर की चौखट लांघते ही हज़ारों नजरें सक्रिय हो उठतीं—देखो-देखो, यह वही है। दुनिया को अपना चेहरा फिर भी दिखा रही है।

बहुत बार अनुरोध करने के बाद लोकमोहन चुप हो गए थे। शायद भूल ही गए थे। और श्रावणी भी भूल गई थी कि इस घर के बाहर भी एक और दुनिया है जहां सड़क नाम की कोई चीज़ है।

इसीलिए बहुत अरसे के बाद खिड़की खोलते ही पहले तो उसकी आंखें चौंधिया गईं। खुली खिड़की से नीचे की तरफ देखते-देखते उसके मन में अचानक एक अजीब खयाल आया। इच्छा हुई कि वह इस जगह से नीचे की सड़क पर एकाएक कूद पड़े। देखते-देखते उसके मन में एक नशा-

सा छा रहा था।

ठीक उसी क्षण चेतना में एक जबर्दस्त धक्का पहुंचा।

खिड़की के ठीक नीचे एक टैक्सी आकर रुकी।

ड़ा० निर्जन सोम उतरा और उतरते ही एकाएक उसने ऊपर की तरफ देखा।

उसने इस खिड़की की तरफ ही क्यों ताका? क्या वह जानता था कि यह खिड़की किसकी थी? क्या वह रोज़ ही ऐसे देखता होगा या सिर्फ आज ही खिड़की पर किसी की उपस्थिति का आकर्षण उसकी आंखों को ऊपर की तरफ खींच लाया? श्रावणी छलांग नहीं लगा सकी, निष्पलक देखती रही।

बस एक ही बार देखकर सिर झुकाकर, टैक्सी का किराया देकर डाक्टर सोम धीरे-धीरे मकान के अन्दर चला आया।

पर उस एक लमहे में निर्जन की आंखों में रोशनी चमक उठी थी। उसका चेहरा खिल उठा था। लेकिन क्यों? सहायक डाक्टर, जिसको अभी डाक्टर के रूप में पर्याप्त यश और प्रतिष्ठा नहीं मिली थी, जिसके पास गाड़ी नहीं थी, होने की संभावना भी कम थी, ट्राम-बसों में चढ़ता था, शांत स्वभाव के निर्जन सोम का चेहरा अचानक सूर्यास्त की इस भीनी धूप में इस तरह क्यों चमक उठा? अब तक तो वह दुतल्ले के अनुसूया के कमरे में निर्दिष्ट कुर्सी पर बैठ गया होगा। पर और दिन तो डाक्टर सुबह आता था, आज क्या बात हो गई?

अनुसूया ने भी वही बात पूछी—डाक्टर साहब, आज सुबह आए नहीं?

—नहीं आ सका। किसी काम में अटक गया था। कैसी हैं आप?

क्लान्त आवाज़ में अनुसूया बोली—जिन्दा तो हूं ही। रोज़ सुबह भगवान से कहती हूं आज का दिन पूरा नहीं होने दो भगवन् पर…

डा० निर्जन सोम हंसकर बोला—इतना कहती ही क्यों हैं! मेरी दादी कहती थी—भगवान के कान उल्टी तरफ हैं। इसलिए जो जिस चीज़ की प्रार्थना करता है, उल्टा सुनकर वे उसी ढंग से पूरी करते हैं।

यह कोई नई बात नहीं थी। अनुसूया भी जानती थी। उसने भी

अपनी दादी मां से यह कहावत सुन रखी थी।

निराश स्वर में अनुसूया ने डाक्टर से कहा—न कहूं तो भगवान मुझे उठा लेंगे क्या ?

निर्जन सोम जोर से हंस पड़ा। बोला—बराबर कहिए कि हे भगवान ! मुझे बचाकर रखो। मुझे शतायु बना दो।

अनुसूया अवाक् रह गयी। आज डाक्टर कुछ बदला-बदला-सा लग रहा था। इतना हंस रहा था, इतनी बातें कर रहा था, फिर मनुष्य-चरित्र के प्रति चिर सन्देह अनुसूया के दिमाग में आया—कहीं डाक्टर ने नशा तो नहीं चढ़ा रखा है! अनुसूया का सन्देह गलत भी नहीं था। निर्जन सचमुच नशे में था। पर यह एक नए प्रकार का नशा था।

डाक्टर निर्जन का यह हंसना अनुसूया के साथ मजाक करने के उद्देश्य से नहीं था। यह हंसी उसकी उपस्थिति की घोषणा थी।

—मैं तुम्हारे पास, तुम्हारे निकट आ गया हूं। इसे तुम भी अनुभव करो। घर-गृहस्थी के हज़ारों कामों के बीच मेरे आने के इस क्षण को खो मत दो। हिमशिखर पर सूर्योदय की तरह एक बार कम से कम दर्शन तो दे जाओ। आवेश के उच्छ्वास से डाक्टर आज बेतहाशा खुश था, इसलिए तो आज वह बदला-बदला-सा लग रहा था।

पर थोड़ी देर पहले तक उसका यह आवेश कहां था ? जब वह भीड़ भरे रास्ते से टैक्सी में आ रहा था, तब वह एक तीर्थयात्री की भांति गम्भीर अनुभूति में खोया हुआ चुपचाप टैक्सी में बैठा था।

पर अचानक ही खिड़की में खड़ी श्रावणी का चेहरा देखकर उसका मन छलछला उठा। यह अनुभूति मानो प्रकाश का एक झरना थी जिसने उसे भिगो डाला था। मन की एक झंकार ने उसे अनायास ही साहसी बना दिया था। इसीलिए वह अनुसूया के सामने भी फालतू बातों और अकारण हंसी की हिम्मत कर रहा था।

क्या उसकी यह हंसी, यह आवाज़ और किसी के कानों में पहुंचकर नहीं गूंज रही थी—मैं आया हूं। मैं आया हूं।

आज निर्जन ने अपनी आंखें क्यों ऊपर उठायी थीं, इसका उसके स्वयं के पास कोई जवाब नहीं था।

मैं विधवा हूं। मैं विधवा हूं—श्रावणी ने बार-बार फुसफुसाकर इन शब्दों का उच्चारण किया। फिर भी इस धिक्कार के शब्द ने कोई बाधा नहीं मानी। पूर्णिमा की ज्योति से समुद्र में जो ज्वार उठता है, श्रावणी उससे कैसे बचती ?

फिर भी अपने पर उसे धिक्कार हो रहा था। अपने को कोस रही थी —मैं लोभी हूं, अविश्वासी हूं, निर्लज्ज हूं, घृणा की पात्र हूं। दुनिया मुझे अश्रद्धा की दृष्टि से देखेगी। मैंने अपने स्नेह-परायण अभिभावक से कहा था —'मुझे माफ कीजियेगा। मुझे माफ कीजिएगा।' क्या मेरे अन्दर का वह 'मैं' मर चुका है ? अगर मरा नहीं तो मैं अपने को कैसे माफ करूं ?

श्रावणी को स्वयं पर आश्चर्य हो रहा था। खून की जो तरंग हमेशा-हमेशा के लिए स्तब्ध हो चुकी थी और यह सोचकर वह निश्चिन्त थी, उसी खून में आज यह कैसी झंकार ? किसी पुरुष की पदध्वनि पर वह क्यों बार-बार उछलना चाहता था ? सोचते-सोचते श्रावणी एकाएक रो पड़ी। सिसक-सिसककर रोने लगी। आंसू की धार से सामने बुक-शेल्फ पर रखा विश्वमोहन का फोटो भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। विश्वमोहन दृष्टि के बाहर ही रह गया। फिर श्रावणी को राह कौन दिखाएगा ? राह बदलने पर लोकमोहन के सामने वह अपना सिर कैसे ऊंचा कर पाएगी ?

डा० निर्जन सोम तो मानो कोई व्रत ही ले बैठा था—चन्द्रपीड़ राय को ढूंढने का व्रत। व्रत कठिन था—अपनी प्रेयसी के सामने उसी के दूसरे स्नेही जन को हाजिर करना। पर वह रोज़ ही एक न एक बार चन्द्रपीड़ के घर जाता, आगरपाड़ा में उसके कारखाने में जाकर पता लगाता—कोई कुछ पता बताता तो उस पर चिट्ठी लिखता—'श्रावणी देवी अधीर हैं —अपनी खबर भेजिए।

पर चिट्ठियों का कोई जवाब नहीं आता। और लज्जित, संकुचित निर्जन रोज़ की तरह एक बार और श्रावणी के सामने सिर झुकाकर खड़ा रहता—अपनी असफलता का साकार रूप बनकर।

पर निर्जन यह सब करता ही क्यों था ? पर वह करता भी तो क्या ? हृदय चीज़ ही ऐसी है जिसका कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता, जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता, जिसके कारण निश्चिन्तता से रहा नहीं

जा सकता।

उस दिन निर्जन सोम का मन एकाएक वेदना से मचल उठा था। श्रावणी उत्साहित होकर पूछने आयी थी—कोई खबर है डा० सोम ?

निर्जन का चेहरा मलिन हो उठा था। किसी तरह कह सका—नहीं। पता नहीं लग पाया। कल कोई बता रहा था कि हरिद्वार गए हुए हैं। उस सज्जन से लौटते समय में हुई थी।

—सच। भेंट हुई थी ? श्रावणी अधीर होकर पूछ रही थी। निर्जन ने आंखें नहीं उठायीं। श्रावणी का यह उत्साहित रूप उसे निरुत्साहित और निराश कर रहा था। बोला—उस सज्जन ने तो कम से कम ऐसा ही कहा।

—आज आपको देखकर मुझे लगा कि आप उसकी कोई खबर लाए हैं। श्रावणी हंसकर बोली।

—मेरे चेहरे ने आपके साथ विश्वासघात किया है। निर्जन ने कहा।

श्रावणी बोली—भलामानस पाकर आप पर खूब अत्याचार कर रही हूं, है न ? जो आदमी जान-बूझकर छिपा रहना चाह रहा है, मैं आपसे उसी को ढूंढ लाने के लिए कह रही हूं।

—ऐसा भी तो हो सकता है कि आपके इस अत्याचार से कोई अपने आपको कृतार्थ समझ रहा हो।

यह सुनकर श्रावणी थोड़ी देर के लिए सन्न रह गयी। फिर प्रसंग बदलकर बोली—पिताजी की तबीयत भी ठीक नहीं है। उन्हें भी एक बार देख लीजिएगा।

—क्यों, उन्हें क्या हो गया ?

—खाना बिलकुल नाम के वास्ते खाते हैं। रात को सोते भी नहीं। अकसर रात को उनके कमरे से चलने-फिरने की आवाज़ आती है।

डा० निर्जन बोला—पर लोकमोहन बाबू अगर स्वयं मुझसे न कहें तो चिकित्सा करना क्या सम्भव हो सकेगा ?

श्रावणी हंसकर बोली—फिर तो आपने उन्हें पहचान ही लिया ! शायद डा० मजूमदार के लिए यह काम आसान रहेगा।

—मैं उन्हें कहूं ? निर्जन बोला।

—नहीं, पहले मैं पिताजी से पूछ लेती हूं।

—मैं चलता हूं। निर्जन बोला।

श्रावणी और कुछ यों ही बोलना चाह रही थी। बोली भी—हां। इस समय आपको बहुत काम भी होगा ?

—प्रतिष्ठाहीन डाक्टर को जितना काम रह सकता है बस उतना ही।

—आप बड़े विनयी हैं। आपका नाम जरूर विनयकुमार है ? श्रावणी सहज होना चाह रही थी। चन्द्रपीड़ को लेकर दोनों का परिचय घनिष्ठ हो गया था। बात करने की अवधि भी बढ़ गयी थी। श्रावणी के प्रश्न के जवाब में निर्जन बोला—नहीं, मां-बाप बचपन में मुझे ठीक से पहचान नहीं पाए होंगे, इसलिए नाम कुछ और ही रख दिया।

—वह नाम क्या है, सुन सकती हूं ?

—आप सच में नहीं जानती ?

—कैसे जानूंगी कहिए। आप तो डाक्टर सोम के नाम से ही विख्यात हैं।

—विख्यात ? आपकी भद्रता भी अतुलनीय है। गुण के अनुसार तो आपका नाम भी सुभद्रा होना चाहिए था। पर लगता है बचपन में आपको भी किसी ने नहीं पहचाना।

—मेरा नाम सुभद्रा नहीं है, यह आप कैसे कह सकते हैं ?

निर्जन श्रावणी को देखते हुए बोला—अगर कहूं कि मुझे उसका प्रमाण मिल चुका है।

निर्जन की इस स्पष्ट दृष्टि के सामने श्रावणी कांप-सी उठी। पर संयत होकर बोली—अनादि ने बताया होगा आपको। गप-सम्राट् तो वह है ही। फिर बोली—सुभद्रा जब नहीं ही हूं तब तकल्लुफ भी नहीं करूंगी। आपसे जमकर काम लूंगी। अगर किसी तरह उनका पता लगा सकें—श्रावणी ने जाते हुए निर्जन को हाथ जोड़कर नमस्ते किया। निर्जन चुप रहा। 'नमस्ते' लौटाने की सामान्य सौजन्यता भी वह भूल बैठा। एक अजीब-से कष्ट ने उसके मन को बेचैन बना दिया। धीरे-धीरे लोकमोहन के मकान से वह सड़क पर आ गया।

एक बेबस नारी आन्तरिक विश्वास के साथ उससे सहायता मांग रही थी, यह बात जानकर भी वह आज खुश नहीं हो सका। फिर भी चन्द्रपीड़

को ढूंढ लाने का व्रत वह नहीं छोड़ सकता था। यही तो एकमात्र माध्यम था—थोड़ी-सी बात कर लेने का, थोड़े से नजदीकीपन का।

—डा० सोम तुम्हें कैसा लड़का लगता है, बहू? अखबार पढ़ते हुए लोकमोहन ने पूछा।

श्रावणी का चेहरा कितना आरक्त हो उठा, लोकमोहन देख नहीं पाए। उन्हें केवल श्रावणी का उत्तर सुनाई पड़ा।

—आप मुझसे इस तरह के प्रश्न क्यों पूछते हैं, पिताजी?

—ऐसा भी क्या बेकार प्रश्न है, बहू? रोज़ आता है। घर के अन्दर आता है। परिचय तो हुआ ही होगा। होना स्वाभाविक भी है।—लोकमोहन बोले।

—सिर्फ परिचय होने पर ही क्या बताया जा सकता है कि लड़का कैसा है?

श्रावणी का गला रुंध गया। फिर बोली—और कैसा है, यह जानने की जरूरत भी क्या है। डाक्टर कैसी चिकित्सा करता है यही जानना बहुत है। आपके प्रश्न का मैं अर्थ नहीं समझ सकी।

अखबार पर से दृष्टि उठाकर लोकमोहन बोले—लगता है तुम नाराज हो रही हो? बताओगी क्यों?

—नाराज नहीं हो रही हूं। पर आप मुझसे इस तरह के प्रश्न फिर कभी नहीं पूछिएगा, यही कहना चाहती हूं।

—यह तो ठीक है। लोकमोहन हंस पड़े। बोले—सुनने में आया है, इधर मि० राय का पता लगाने के लिए जी-तोड़ कोशिश कर रही हो, अधीर हो गयी हो। इसका अर्थ समझना भी तो कठिन है।

श्रावणी सन्न रह गयी। कठोर हो उठी। कड़े स्वर में बोली—अधीर हो गयी हूं, यह बात आपसे किसने कही?

—किसने कब क्या कहा, इतना याद रखना तो मुश्किल है, बहू। पर सुनने में आया था इसलिए कह रहा हूं।

—छोटी-छोटी बातें कान में पड़ें भी तो उन्हें याद न रखिए वही अच्छा है, पिताजी! ...खैर, इस समय आपको नारियल का पानी देने के

लिए कहूं ?

—अभी रहने दो। कहकर लोकमोहन फिर अखबार में डूब गए।

बीच का बड़ा कमरा पारिवारिक बैठक था। पहले वहां बड़ी चहल-पहल रहती थी। आराम के सारे उपकरण यहां मौजूद थे।

पहले रोज़ शाम को लोकमोहन आरामकुर्सी पर आकर बैठते, विश्व-मोहन बड़े सोफे पर, अनुसूया उनकी बगल में। श्रावणी और अनादि भी आस-पास रखी कुर्सियों पर बैठते। कभी-कभी लोकमोहन की बहन तिलोत्तमा और उसके पति भी आ जाते। फिर तो कहना ही क्या—गप-शप, आलोचना और तर्क-वितर्क में शाम गुजर जाती।

उपकरण तो आज भी पहले की ही तरह मौजूद थे। हर हफ्ते, टेबल सोफे और कुर्सियों की खोलियां बदली जातीं। टेबल पर चार-पांच दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रिकाएं रखी रहतीं। पर पहले जैसा जमघट अब नहीं होती। अनुसूया तो शायद अपने कमरे के सिवा बाकी घर का स्वरूप तक भूल चुकी थी। अनादि तो जहां लोकमोहन रहते, वहां से होकर गुजरने में भी कतराता। सिर्फ लोकमोहन अपनी पुरानी आदत के अनुसार अब भी शाम को आरामकुर्सी पर आकर बैठते थे। तिलोत्तमा जब आती, सीधे अनुसूया के कमरे में चली जाती। तिलोत्तमा के पति आज-कल आते ही नहीं थे। कहते—तुम्हारे घर जाने से मुझे घुटन-सी होती है।

लोकमोहन आज भी रोज़ की भांति आरामकुर्सी पर बैठे थे। श्रावणी एक-दो बार किसी काम से वहां से होकर आयी-गयी। लोकमोहन ने कहा —बहू, जरा इधर भी सुनती जाना।

—कहिए। श्रावणी पास में आकर खड़ी हो गयी।

—बैठो न।

—ठीक हूं। फिर एक मुसकान के साथ बोली—कहिए।

—क्या कहूं ? तुम कहती हो तुम ठीक हो, मैं कहता हूं ठीक नहीं हो। वही पुरानी बात फिर से दोहरा रहा हूं। समस्या का कोई समाधान तो हुआ नहीं। और सच पूछो तो इस घर में कोई भी ठीक नहीं है। न तुम,

न मैं, न ही तुम्हारी सास। नौकर-चाकर भी नहीं। सभी एक दुःस्वप्न की रात काट रहे हैं। इसका उपचार जरूरी है।

—इसका क्या उपचार हो सकता है, पिताजी ?

—क्यों नहीं ? उपचार तो अपने ही हाथों में है। इस घर में फिर से जीवन की गति लानी पड़ेगी। नए काम का ज्वार लाना पड़ेगा। फिर धीरे-धीरे सब-कुछ ठीक हो जाएगा। इसलिए कह रहा हूं कि अब तुम्हें भी अपने मन को पक्का करना होगा।

—आप किस चीज की बात कर रहे हैं, पिताजी ?

—ताज्जुब है। तुम्हें फिर से समझाना पड़ेगा, यह मैं नहीं समझता था, बहू। मैं तुम्हारी शादी के बारे में कह रहा हूं। मुझे लगता है सोम अच्छा लड़का है। जब चन्द्रपीड़ नहीं मिल रहा है, तब और उपाय भी क्या है। डा० सोम निःसन्देह एक आकर्षक पुरुष है। तुम्हारी क्या राय है ? आशा है अब तुम्हें 'मुझे माफ कीजिए' कहने की जरूरत नहीं होगी।

इसके जवाब में लाज-शर्म छोड़कर श्रावणी न जाने कैसे बड़े सहज भाव से पूछ बैठी—आप क्या सचमुच ही मेरी शादी करना चाहते हैं, पिताजी ?

लोकमोहन चौंक उठे। क्षणभर के लिए स्तब्ध हो गये। इस प्रश्न के लिए संभवत वे भी तैयार नहीं थे, पर बोले—चाहता हूं, इसके लिए तुम्हारे मन में कोई सन्देह है, बहू ?

—सन्देह की बात नहीं। सिर्फ पूछ रही हूं। श्रावणी बोली।

—जब तुम पूछ रही हो तब यही कहूंगा, हालांकि पहले भी कई बार कह चुका हूं—इसे मैं अपना कर्तव्य मानता हूं, बहू। इसलिए मेरा चाहना और नहीं चाहना इतना महत्त्व नहीं रखता।

श्रावणी बोली—पर मेरी समझ में यह नहीं आता कि आप इसे अपना कर्तव्य क्यों समझते हैं ?

लोकमोहन गंभीर होकर बोले—इतने स्पष्ट रूप से ही जब आलोचना कर रही हो तब उसी ढंग से कहूंगा। कौन किसके प्रति अपना क्या कर्तव्य समझता है, वह दूसरों के लिए समझना थोड़ा मुश्किल है। अनादि क्यों सोचता है कि घर में जासूसी करके सबके बारे में सारी खबरें अपनी

मामी के कानों में पहुंचाए ? डा० सोम क्यों इस घर से निकले हुए पेईंग गेस्ट को ढूंढ़ लाना अपना कर्तव्य समझते हैं ?

लोकमोहन की यह बात सुनकर श्रावणी का सुडौल-कोमल चेहरा पत्थर की तरह कठोर हो उठा। पर जवाब उसने नम्रता के साथ ही दिया। बोली—डा० सोम को यह काम मैंने ही सौंपा था। इसलिए यह बात रहने दीजिए, पिताजी। और अनादि बाबू के कर्तव्य-बोध या जासूसीपन से किसको क्या सुविधा हो रही है, यह प्रश्न भी मैं नहीं उठाना चाहती। मैं तो आज सिर्फ आपसे इतना ही कहना चाहती हूं—अगर कभी आवश्यकता हुई, जब वह समय आएगा, मैं स्वयं ही आपसे कहूंगी।

—तुम स्वयं मुझसे कहोगी ? अपना शिथिल भाव छोड़ लोकमोहन सीधे होकर बैठ गए। तीव्र स्वर में बोले—समय आने पर ? आवश्यकता पड़ने पर ? और अगर मैं कहूं कि आवश्यकता है और समय भी आ चुका है ?

—मैं आपसे क्या तर्क करूं, पिताजी ?

—वह, तर्क के लायक कुछ होता तो करती। खैर, छोड़ो। मैंने स्वेच्छा से ही तुम्हें इतने साहस का मौका दिया कि आज तुम मेरे सामने इस तरह बातें कर रही हो। पर बात जब इतनी स्पष्ट रूप से हो ही रही है तब सारी बात साफ-साफ हो जाना ही अच्छा है। मैं तुम्हें फिर भी कहूंगा कि तुम झूठे अहंकार के बल पर अपने पर भरोसा किए बैठी हो पर अंत तक अपने को बचा नहीं पाओगी। मैं तुमसे बहुत पहले इस दुनिया में आया हूं, बहुत कुछ देखा-सुना भी है। अकाल वैधव्य को भाग्य मानकर पत्थर की देवी बनकर जीवन बिताने की हिम्मत सभी में नहीं रहती। राय जिस दिन चला गया उसके पहले दिन मैंने उसके सामने विवाह का ही प्रस्ताव रखा था। मैं जानता था कि अगर वह राजी हो जाएगा तो और कहीं से बाधा नहीं आएगी। पर छोकरा··· फिर दया की हंसी हंसकर लोकमोहन बोले—घबराकर भाग गया। देश छोड़कर ही भाग गया।

श्रावणी पीसने से तर, थर-थर कांप रही थी। उसी कांपते स्वर में बोली—आपने उससे यह बात कही ? एक बार आपने मुझसे क्यों नहीं पूछा ? अब मैं जीवन भर उसे अपना चेहरा नहीं दिखा सकूंगी। चन्द्रपीड़ मुझे दीदी कहता था, पिताजी !

—यह कोई खास बात नहीं। लोकमोहन अपने विचार पर अड़े रहे। बोले—ऐसी भावनाओं की कोई कीमत नहीं। तुमसे उम्र में बड़ा एक आदमी खामखा तुम्हें दीदी कहकर क्यों पुकारेगा, मैं तो नहीं समझ सकता। खैर, चन्द्रपीड़ की बात छोड़ो। डा० सोम भी कोई बुरा नहीं।

—पिताजी! श्रावणी के स्वर में आर्तनाद था। बोली—अपनी बात मुझे ही सोचने दीजिये, आपसे बस इतनी ही प्रार्थना है।

—इसका मतलब तुम मन पक्का नहीं कर पा रही हो। लोकमोहन व्यंग्य भरी आवाज़ में बोले—अभी तक निश्चय नहीं कर पा रही हो कि किस नाव पर चढ़कर दरिया पार करोगी। इसलिए घाट पर दोनों ही नावों को बांध रखा है। सोम से खेल रही हो और राय को ढूंढ़ रही हो। बात तो यही है न? तुम्हारे प्रति मेरी धारणा कुछ और ही थी। तुम्हें मैंने अपनी कन्या की मर्यादा दी थी। पर आज तुमने अपनी खुशी से उस स्नेह और श्रद्धा—दोनों ही को खो डाला।

बात समाप्त कर लोकमोहन चले गए। पीछे मुड़कर एक बार देखा भी नहीं कि उनकी बात ने किसी के हृदय को कितना-क्षत विक्षत कर दिया।

आज सुबह श्रावणी किसका मुंह देखकर उठी थी, कि उसके क्षत-विक्षत हृदय पर फिर एक विषाक्त तीर आकर विंध गया।

ट्रे में कुछ चिट्ठियां रखकर अनादि आया। और दिन यह काम नौकर ही करता था पर आज अनादि का यह कैसा उत्साह?

अनादि बोला—मामाजी, चिट्ठियां लेटर बॉक्स में पड़ी थीं। चिट्ठियों के ढेर में सबसे ऊपर का विदेशी डाक टिकट लगा लिफाफा श्रावणी के नाम से था। जापान से आया था। श्रावणी के नाम से चिट्ठी देखकर लोकमोहन थोड़ा विस्मित हुए। फिर चिट्ठी को हाथ में लेकर बोले—तुम्हारी चिट्ठी है, बहू। लगता है जापान से आयी है।

—आप ही पढ़िए न, पिताजी!

—मैं? अजीब बात कर रही हो। तुम्हें ऐसा लगता है कि मुझमें दूसरों की चिट्ठियां पढ़ने की आदत है।

श्रावणी आज सच में ही पत्थर बन चुकी थी। बोली—आदत किसी की सदा एक-सी नहीं रहती। दूसरों के काम पर छिपकर नजर रखने की आदत भी तो आपमें कभी नहीं थी, पिताजी!

लोकमोहन विमूढ़ हो गये। रुंधे स्वर में बोले—बहू, शायद तुम भूल रही हो कि तुम मेरी कौन हो? इसलिए इतनी बड़ी बात मेरे मुंह पर कह डाली। खैर, दोष मैं तुम्हें नहीं देता, यह हिम्मत भी मैंने ही दी है।

शिथिल मुद्रा में लोकमोहन अपने कमरे की तरफ चले गये।

श्रावणी मूर्तिवत् वहीं खड़ी रही। देखती रही। अनादि अनुसूया के कमरे में घुस गया। नयी खबर सुनानी जो थी। नन्दू, विष्टू—सभी तिरछी नजरों से श्रावणी को घूर रहे थे। अनुसूया के कमरे से तिलोत्तमा भी निकलकर बरामदे में श्रावणी को देखकर भी अनदेखी कर चली गई।

तिलोत्तमा? वह कब आयी? उस समय श्रावणी कहां थी?

तिलोत्तमा के जाते ही, श्रावणी के मन की स्थिति अजीब-सी हो गई। उसे लगा—उसके चारों ओर की दीवारें सरक रही हैं और वह खुले आकाश के नीचे खड़ी है। अनन्त मुक्ति के बीच एकाएक उसका मन हल्का हो उठा। एक अजीब उपलब्धि के आनन्द से उसका मन भर उठा। यह अनजान अनुभूति, मुक्ति अब तक कहां थी?

अलमारी के दोनों दरवाज़े खुले पड़े थे। अलमारी का हर ख़ाना साड़ियों से भरा पड़ा था। अनगिनत साड़ियां थीं। रंग-बिरंगी—हज़ारों डिजाइनों की साड़ियां। शादी के बाद श्रावणी का बक्सा देखकर उसकी भाभी की आंखें भी गोल हो उठी थीं। बोली थी—बाप रे, कितनी साड़ियां? तीन जनम पहनने पर भी नहीं खत्म होंगी।

पर श्रावणी का तो साड़ी पहनने का जीवन ही खत्म हो गया था—दो-चार साड़ियों के खत्म होने के पहले ही। कमरे में लगा यह छोटा कमरा बक्सा-घर ही था। अलमारी और अलगनी भी थी। विश्वमोहन का वार्डरोब भी उसके कपड़ों से भरा था।

कभी-कभी विष्टु अपने हाथों से कपड़ों को धूप में सुखाता। फिर झाड़-झूड़कर सजाकर रखता। यह अर्थहीन काम वह न जाने क्यों अपने

ही मन से करता था।

श्रावणी के साड़ी-भंडार में किसी के हाथ नहीं पड़ते। कभी-कभी उन अनगिनत साड़ियों में से सबसे सादी—सबसे मामूली सफेद सूती साड़ी निकालकर श्रावणी अपने व्यवहार के लिए रख लेती।

पर आज के पहले वह कभी भी खुली अलमारी के सामने इस तरह अपलक नहीं खड़ी हुई थी।

बहुत देर के बाद उसने अलमारी बन्द कर दी। जैसी चाहती थी, वैसी मामूली साड़ी उसे दिखी नहीं।

पर सामने रखे सूटकेस में पहनने के लिए कपड़े तो रखने ही पड़ेंगे। परिस्थिति और वातावरण चाहे जैसा भी हो, एक कपड़ा लपेटकर विदा लेने की हास्यास्पद परिस्थिति का दिखावा करने का शौक श्रावणी को नहीं था। विदा हो जाना ही तो अंतिम बात नहीं थी। दिन-प्रतिदिन की जरूरतों को तो लेकर ही कहीं जाना पड़ेगा। जहां भी जायेगी वहां यहां की मान-मर्यादा तो रखनी ही पड़ेगी।

मनुष्य सभी बन्धनों से शायद मुक्ति पा सकता है पर जीने और दिन काटने के बन्धन से नहीं। इसलिए अपनी अलमारी बन्द करके उसने विश्वमोहन के वार्डरोब में रखे देशी पोशाकों के ढेर पर हाथ रखा। धोतियां, कुर्ते, चद्दर यों ही पड़े हुए थे पर श्रावणी ने एक ज़माने के बाद उन्हें हाथ में उठाया।

बहुत दिनों के बाद लोकमोहन अनुसूया के कमरे में आए। अभी भी अपनी मर्जी से नहीं आए थे। अभिमान, स्वाभिमान भूलकर अनुसूया ने ही उन्हें बुला भेजा था।

अनुसूया को भूमिका बनाने की आदत कभी नहीं थी। आदमी को देखते ही उसकी ज़ुबान में बातों की बाढ़ आ जाती थी। उसी भाव से उद्वेलित होकर घबराकर पूछा—चैन की नींद सो रहे हो ! बहू सर्वनाश पर तुली है—तुम्हें कुछ मालूम भी है !

लोकमोहन स्थिर भाव से बोले—सर्वनाश किस बात का ! बहू बाप के घर जा रही है, यही न !

—बाप के घर ! यही विश्वास लेकर चैन से बैठे हैं आप ! बाप के घर उसका है ही कौन ? वही तो एक नालायक भाई। इसी बहाने यहां से निकलकर वह और कहीं चली जाएगी।

—अगर ऐसा ही करेगी तो क्या तुम उसे रोक सकती हो !

—क्यों नहीं ? अनुसूया अपनी स्वाभाविक उत्तेजना के आवेश में उठ बैठी। बोली—मैं न सही पर क्या तुम भी नहीं रोक सकते ! तुम्हारे खानदान की बहू नहीं है वह ? जो मन में आया करेगी ! खानदान के नाम पर कालिख नहीं पुतेगी !

—पुतेगी।

—पुतेगी ! और तुम बैठे-बैठे तमाशा देखोगे !

—और उपाय भी क्या है ! दूसरा उपाय मैंने सोचा था पर वह सफल नहीं हो सका।

लोकमोहन अनुसूया के साथ इतनी बातें कभी नहीं करते थे। वर्षों बाद यह मौका अनुसूया ने व्यर्थ नहीं जाने दिया। पति का हाथ पकड़कर हांफती हुई बोली—तुम उसके आगे हार मान जाओगे ! पराए आदमी के हाथों में उसे छोड़ दोगे ! जंजीर से बांधकर उसे नहीं रख सकते ? फिर एकाएक पति का हाथ छोड़कर बिस्तर पर लुढ़क गई अनुसूया, क्योंकि तभी चर्चा की विषय स्वयं कमरे में आकर उपस्थित हो गई थी। बोली—ट्रेन का समय हो रहा है, मां !

सास और ससुर को एक ही साथ पाकर श्रावणी को सुविधा हो गई। श्रावणी को देखकर पलभर के लिए किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला।

पर साहसी गंभीर हिम्मती लोकमोहन ने ही पहले पूछा—यह धोती तुम्हें कहां से मिली, बहू ?

—घर पर ही थी, पिताजी !

—इस वेश में न जाने पर क्या तुम्हारे भैया तुम्हें घर में घुसने नहीं देंगे !

श्रावणी मृदु भाव से हंसी। बोली—यह सब सोचकर मैंने कुछ नहीं किया है, पिताजी। यह यों ही पड़ी हुई थी। काम में ले लिया। अब

चलती हूं।

—सुना है अनादि को साथ नहीं ले रही हो !

—उसकी कोई जरूरत नहीं, पिताजी। जब होस्टल में थी, छुट्टियों में अकेले ही तो घर जाती थी।

—कितने दिनों तक रहने का विचार है ?

—अभी तक कुछ तय नहीं किया है। थोड़ी देर के लिए श्रावणी चुप रही। कहने को तो बहुत कुछ था, पर नहीं, वह कुछ भी नहीं कहेगी। सहज भाव से चली जायेगी। अपनी आत्म-परीक्षा का दिन वह वहीं से शुरू करेगी।

लोकमोहन के इस प्रासाद में कैद रहकर उनके प्यार का ऋण चुकाते-चुकाते वह धीरे-धीरे रिक्त होती जा रही थी। विचार-बुद्धि खोती जा रही थी। अपने को जानने के लिए यहां से उसे जाना ही पड़ेगा। पर जाना तो भागने की तरह था। पर नहीं, ऐसा लगना नहीं चाहिए। इसलिए सहज भाव से बोली—उस बार भैया लेने के लिए आये थे तो गयी नहीं, इसलिए।

श्रावणी की बात खत्म भी नहीं हुई थी कि अनुसूया बिलख-बिलख-कर रोने लगी। रोती हुई बोली—अधिक दिनों तक हम लोगों से दूर मत रहना, बेटी। हम लोग बच नहीं सकेंगे।

श्रावणी मन ही मन बोली—हर पल तो मृत्यु की कामना करती है, फिर आज यह दुःख कैसा ? पर मन की बात तो सुनायी नहीं पड़ती इसलिए अनुसूया रोती हुई कहती ही गयी—तुम मेरे मुन्ने की यादगार हो। तुम्हें पाकर ही तो उसका शोक भूल बैठी हूं, बेटी। मैं जानती हूं तू सती-लक्ष्मी है—बड़ी अच्छी है। तेरे मन में दया है, ममता है। हम दो बुड्ढे-बुड्ढी तेरे ही सहारे तो जी रहे हैं—यह बात भूलना नहीं, बेटी!

अनुसूया के इस नाटक के लिए आज लोकमोहन ने उसे डांटा नहीं, खिड़की के बाहर शून्य दृष्टि से चुपचाप देखते रहे।

श्रावणी धीरे से बोली—ट्रेन का समय हो रहा है, अब मुझे चलना चाहिए। फिर चद्दर को अच्छी तरह लपेटकर चली गयी।

लोकमोहन मौन थे ही, अनुसूया भी चुप ही रही—जब तक श्रावणी

को लेकर मोटर रवाना न हो गई। कार की आवाज़ खामोश होते ही अनुसूया खिन्न स्वर में बोली—एकदम काठ की बनी है। जबान में एक नरम बात तक नहीं। अचानक भाई के घर जाने का खयाल क्यों हुआ, भगवान् ही जाने। जाने के पहले मति सुधर गयी, यही बहुत है। भगवान् ने जिसे जिस रूप में सजाया है उसे वही शोभता है। आज उसका शृंगार देखकर जी ठंडा हुआ।

लोकमोहन धीरे से उठकर कमरे से बाहर चले गये। अनुसूया को वह आज डांट भी नहीं सके···मानो उनकी शक्ति खत्म हो गयी थी।

लोकमोहन का मकान छोड़ने के लिए भी उन्हीं की गाड़ी से चलकर छोड़ना, पड़ेगा, फिर भी जितने सभ्य ढंग से जाना हो सके, उतना ही अच्छा रहेगा। स्टेशन तक छोड़ने के लिए विण्टु और अजित की मां भी आये थे।

बड़े यत्न के साथ मोटर से उन लोगों ने श्रावणी को ट्रेन के डिब्बे में चढ़ा भी दिया। अजीत की मां आंखें पोंछकर बोली—जल्दी लौट आना, भाभी जी। आप नहीं रहेंगी तो बाबूजी का खाना-पीना भी ठीक से नहीं होगा। कौन उन्हें देखेगा! आप उनकी बेटी जैसी ही हैं, इसलिए ···इसलिए के बाद श्रावणी और कुछ सुन नहीं पायी। ट्रेन चल पड़ी थी। चुपचाप बैठी श्रावणी सोचने लगी—जब श्रावणी लौटकर नहीं आएगी, तब ये लोग क्या कहेंगे?

दुनिया क्या उसे कठोर, अकृतज्ञ, स्नेहविहीना नहीं समझेगी?

लोकमोहन के स्नेह में तो कोई कमी नहीं थी। उन्होंने तो यह भी कहा था कि श्रावणी उनकी विधवा पुत्रवधू नहीं बल्कि वयस्क अविवाहिता लड़की है। उन्होंने श्रावणी को मर्यादा भी कन्या की ही दी थी। पर मनुष्य की मर्यादा?

गुड्डे-गुड़िया की जोड़ी में से एक टूट गया था इसलिए एक और नया गुड्डा खरीदकर खेलना चाहते थे लोकमोहन। अपनी उदारता का दृष्टान्त देकर सारे संसार को चौंका देना चाहते थे। श्रावणी की आंखों में वही प्रतिष्ठा पाना चाहते थे जैसा उन्होंने अपने को श्रावणी के विवाह के समय महसूस किया था। श्रावणी को फटे चीथड़ों से उठाकर उसे राजप्रासाद में प्रतिष्ठित किया था। अवहेलना के आंगन से उठाकर उसे

भाभी डरी-डरी-सी इधर-उधर ताककर बोली—चुप। चुप। सुन लेगा तो सर्वनाश हो जायेगा। पर कुछ भी कहो, तुम्हें तुम्हारे भैया खूब मानते हैं। उस बार तुम्हारी ससुराल से आने के वाद वहुत दुःख कर रहे थे। बोले रहे थे—शावि को लाने गया, पर ला न सका। यौवन में उसका जोगन का वेश मैं देख नहीं सका। मेरे पास वह एक शाम दो मुट्ठी वासमती चावल और कच्चे केले खायेगी यह मैं नहीं सह सकता। पर शावि जीजी, आजकल की विधवाओं पर तो वन्धन नहीं होता।

श्रावणी भाभी की बात सुनकर खिलखिलाकर हंस पड़ी।

—यह तुम्हें भैया ने कहा है? श्रावणी हंसी, फिर सोचा—लोग यही कहना पसन्द करेंगे क्योंकि इसी में वे विधवा का गौरव समझते हैं। इसीलिए संजय ने झूठ बोलकर वहन की इज्जत वचायी है। इसी झूठ के सहारे आने के समय अनुसूया ने भी श्रावणी को सती-लक्ष्मी कहा था, उसे अच्छा वताया था और श्रावणी की दया और ममता के सामने अपने वुढ़ापे में अवलम्बन का हाथ फैलाया था। और लोकमोहन? श्रावणी सोचती और उसके होंठ व्यंग्य की मुसकान से टेढ़े हो जाते। लोकमोहन ने वड़ी उदारता से दान की मुट्ठी श्रावणी की तरफ वढ़ायी थी पर वह चाहकर भी दान न दे सके। हार गए।

डाक्टरों की गतिविधियों पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। फिर भी विजया को लगा निर्जन इन दिनों विना काम यों ही फिरता रहता है। एक दिन खाने की टेवल पर उसने पूछा—कई दिनों से तुझे क्या हुआ है रे, निरू? कोई जटिल केस है क्या हाथ में?

निर्जन मां की तरफ देखकर वोला—नहीं मां, कोई जटिल केस नहीं है। फिर मुसकराकर वोला—मेरे जैसे अभागे डाक्टर के हाथ में जटिल केस दे, ऐसा वदकिस्मत कौन होगा, मां। छोटे डाक्टर की तरफ एक नजर डालें, ऐसे आदमी इस देश में कहां हैं?

पर विजया वेटे की फाज़तू वातों में नहीं आने वाली थी। इसलिए वह भी हंसकर वोली—अगर ऐसा ही है तव तो वड़ी चिंता की वात है। कई दिनों से इस कदर मायूस होकर फिर रहा है—कहीं प्रेम-व्रेम का

चक्कर तो नहीं है बेटा ?

निर्जन थोड़ा सहम गया। पर आराम से खाते-खाते बोला—अचानक इतना तीखा प्रश्न ? कोई लक्षण देख रही हो, मां ?

—मां की नजर को धोखा देना कठिन है। कुछ तो देखा ही है। लक्षण कुछ भी नहीं है···यह तू खुले दिल से बोल सकता है ?

—मां, तुम तो मुझ पर बातें थोप रही हो। बोलने के लिए है ही कुछ नहीं तो बोलूं क्या ? मां की आंखें मातृत्व के अहंकार में कभी-कभी बहुत कुछ आरोप भी लगा बैठती हैं, यह एक मानसिक बीमारी है।

—देख निरू ! तू बात मत पलट मेरी। यही बात तुझे पकड़वा रही है। निश्चित प्रमाण पा चुकी हो, इस भाव से विजया बोली—बोल, मेरा अन्दाजा सही है या नहीं ? तेरी कल्पना की असामान्य लड़की से कहीं भेंट हो गई है क्या ?

अब निर्जन थोड़ा गम्भीर होकर अपनी स्निग्ध आंखें मां की तरफ उठाकर बोला—शायद तुमने ठीक ही सोचा है, मां। पर बस वहीं तक है और कुछ नहीं।

—निरू !

—हां, मां !

—थोड़ा सतर्क रहना, बेटा। दुनिया में कितने छल-कपट वाले भी हैं।

—बस करो, मां। दुहाई तुम्हारी। तुम मेरे लिए थोड़ा कम सोचा करो।

—तू कहेगा और मैं सोचना छोड़ दूंगी ? तेरे लिए तो मैं दुश्चिन्ता से घिरी रहती हूं। तुझे अपनी छाती से लगा रखूं इसमें भी सुख नहीं और तुझे किसी के हाथ सौंप दूं, पर सोचकर भी चैन नहीं मिलता। केवल इसी उम्मीद में हूं कि ऐसी कोई आए जो तेरे साथ मुझे भी अपना ले, मेरे से तुझे छीन न ले।

—इतनी-सी बात है ? निर्जन हंस पड़ा—तुम निश्चिन्त रहो, मां। तुमसे कोई कुछ छीन लेने का अभियान नहीं चला रहा।

—बेवकूफ ! बड़ा मूर्ख है तू। मुझे तो लगता है तू किसी ऊंची टहनी में लटके फल की तरफ ताक रहा है !

—इससे कोई अच्छी उपमा तुम्हें नहीं सूझी ? तुम्हारे मुंह से ऐसी भाषा अच्छी नहीं लगती, मां !

—खैर छोड़, बेटा। मान लेती हूं, तू दूर आकाश के किसी फल पर नजर गड़ाए बैठा है पर इससे मुझे क्या शांति मिल रही है। तू अपना जीवन यों ही काटे, मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकती। मैं तेरा घर बसा देखना चाहती हूं। एक-दो सोने के गुड्डा-गुड्डी भी चाहिए जो मेरे साथ खेलें।

—सबकी सभी इच्छाएं पूरी नहीं होतीं, मां। मन को उसी अनुसार ढालना पड़ता है। मन से कहना पड़ता है, उसे सिखाना पड़ता है—मत मांगो···कुछ भी। विजया लड़के के इस अटपटे ढंग की बातों से घबरा उठी। मां का स्नेही हृदय आशंका से भारी हो उठा। बोली—निरूझेमु, बड़ा डर लग रहा है, मानो यह किसी भयंकर विपत्ति का पूर्वाभास है। बेटा, तू मुझे सब-कुछ खुलकर बता।

—कहा तो, मां। कहने लायक कुछ भी नहीं।

—कुछ भी नहीं ? दूर आकाश का तेरा वह तारा ?

—वह दूर पर ही है—हमेशा ही रहेगा।

—हाथ बढ़ाकर तू उसे पकड़ नहीं सकता ? वह धरती पर कभी नहीं उतरेगा ?

—उतरने का प्रश्न ही नहीं उठता।

—प्यार में असंभव भी संभव हो सकता है, निरू !

—कुछ असंभव चीजें ऐसी भी होती हैं मां, जो कभी संभव हो ही नही सकतीं।

—ऐसी भी क्या बात है, बेटा ? क्या वह विवाहिता है ?

—यह आलोचना नितान्त अर्थहीन है, मां। मैं शुरू से तुमसे मजाक कर रहा था।

—तेरी आंखों में आग जल रही है, आंखों के नीचे गड्ढे दिखायी दे रहे हैं। तेरा यह उदास चेहरा देखकर भी मैं इसे मजाक कैसे समझूं।

—इतनी सूक्ष्म दृष्टि से अपने बूढ़े लड़के को मत जांचो, मां।

विजया उदास होकर बोली—तू तो किसी दिन मुझे बहुत दुःख भी पहुंचा सकता है, निरू।

निर्जन इस वात से विचलित नहीं हुआ। बोला—यह तो तुम्हारे अपने हाथ में है। अगर तुम किसी भी वात पर मन छोटा नहीं करती तो तुम्हें कौन दु:खी कर सकता है।

—मैं तो वेटा, मां होकर नहीं, एक दोस्त की तरह कह रही हूं कि जीवन गंवाने की चीज़ नहीं है। इतना कहकर विजया उठकर चली गयी।

निर्जन वैठा-वैठा सोचता रहा। गंवाना! क्या जीवन किसी की सोच में, याद में नहीं विताया जा सकता? यदि जीवन वाहरी असंख्य कामों की व्यस्तता में कट जाए तो उसे क्या व्यर्थ माना जाएगा?

निर्जन की मां विजया भी उधर यही सोच रही थी—जरूर कोई विवाहिता लड़की है—किसी दोस्त की पत्नी अथवा कोई रोगिणी। कभी-कभी विजया की इच्छा होती, निर्जन विवाह कर ले। उसका सुखी दाम्पत्य जीवन हो, गृहस्थी वाल-वच्चों से भरी-पुरी और सम्पन्न हो। पर कभी-कभी सोचती कि वेटे के उस समृद्ध जीवन में उसकी अपनी भूमिका कितनी रह जाएगी? उस दिन भी क्या उसका वेटा विजया की मुट्ठी में समाया रहेगा? उससे तो यही अच्छा था। समाज या कोई रिश्तेदार यदि कहे कि वेटे की शादी क्यों नहीं कर देती तो विजया गर्व के साथ उत्तर दे सकती—मेरा लड़का सस्ता या साधारण नहीं। वह समाज के नियमों से ऊपर है।

इधर कुछ दिनों से इसी तरह के विरोधी विचारों से विजया पीड़ित रहती। क्या सभी की मांएं इसी तरह सोचा करती हैं? इसी तरह उनके मन में भी कर्तव्य का वोध और आतंक के वीच संघर्ष होता रहता है?

संजय सेन अपने अड्डे पर ही श्रावणी के आने की खवर सुन चुका था। घर की पुरानी वूढ़ी नौकरानी कालू की मां जाकर वोली—घर जाओ, दादा वावू। देखो जाकर—सोने की गुड़िया का क्या हाल वन गया है। राजरानी वनी थी, कंगालिन वनकर आयी है। ससुराल में शायद पटी नहीं, इसलिए अकेली ही चली आयी है।

अतः संजय दरवाज़े के वाहर से ही चिल्लाता हुआ घर में आया—कहां गयी रे मेरी वहन? जरा-सी खवर भी नहीं भेजी नहीं तो मैं खुद

अपने संकल्प पर दृढ़ थी। औरत इतनी जिद्दी भी हो सकती है, वेचारी भाभी तो सोच ही नहीं सकती थी। फिर सोचती—ऐसा होगा क्यों नहीं ! एक ही जंगल के तो वांस हैं—जैसा भाई, वैसी ही वहन।

तिलोत्तमा अकसर ही अनुसूया के पास आती। अनुसूया के सूखे-पतले हाथों पर हाथ रखकर वोलती—दो-चार दिन के लिए भाई के घर गयी है, कोई वात नहीं, पर जल्दी ही वुलवा लेना चाहिए। तुम्हारी तवीयत ठीक नहीं रहती। तिलोत्तमा अपनी इस वड़ी भाभी को थोड़ा मनाकर ही रखती। अनुसूया होंठ सिकोड़कर वोलती—मेरी तवीयत के लिए उसे क्या पड़ी है। पर तिलोत्तमा के सामने एक भयंकर समाचार वह छिपा गयी। अनादि को भी कसम देकर कहने के लिए मना कर दिया था। उस दिन अनादि के नाम संजय सेन की एक लंवी चिट्ठी आयी थी—श्रावणी के मलेच्छ जैसे व्यवहार की चर्चा पर। लोकमोहन को यह वात मालूम थी या नहीं—अनुसूया नहीं जानती थी। पर दूसरों तक वात पहुंचे, यह अनुसूया नहीं चाहती थी।

पर तिलोत्तमा को सव-कुछ मालूम हो चुका था। अनादि ने ही वताया था और फिर कसम देकर कहा था कि वह दूसरों को न वताते। उसने भेद तो किसी को नहीं वताया पर जव से सुना था, छटपटा रही थी।

—छि:-छि: ! कैसी वेहूदी वहू है! ससुर के रहते हुए नौकरी करके खाती है ? इससे तो अच्छा होता कि ससुर के गालों पर दो थप्पड़ जड़ देती। अर्थात् श्रावणी के इस स्वेच्छाचार का समर्थन किसी ने नहीं किया।

तिलोत्तमा उठती हुई वोली—वह चली गयी है इसलिए उसके प्रति हम लोगों का दायित्व या कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। समाज का यह नियम भी नहीं है।

प्रसंग वदलकर अनुसूया अपनी वीमारी की चर्चा करने लगी। तिलोत्तमा ने पूछा—डाक्टर आते हैं ?

—हां ! जव तक जीऊंगी डाक्टर की यातना तो सहनी ही पड़ेगी।

—डा० मजूमदार ही आते हैं न ?

—कभी-कभी। उनका यश वढ़ गया है। सदावहार रोगी के लिए अव एक असिस्टेंट भेज देते हैं। वही आता है रोज़ एक वार। माहवारी

नौकरी है। आना ही पड़ता है उसे।

अनुसूया के कहने में कोई अत्युक्ति नहीं थी। सच में ही उसकी माहवारी नौकरी थी। डा० निर्जन सोम भी यही सोचकर रोज़ एक बार इस घर में आता। आजकल अनुसूया डा० निर्जन पर इतना नाराज भी नहीं रहती। कभी-कभी बैठाकर इधर-उधर की बातें भी करती। पूछती—उसकी मां है या नहीं? उसकी शादी हुई या नहीं?

और डाक्टर? डा० सोम रोज़ आता। चला भी जाता और अवाक् होकर सोचता—इस घर के प्राणों का स्पन्दन एकाएक रुक क्यों गया है? मृत्यु के समान चारों तरफ खामोशी क्यों छायी रहती है? वह बन्दिनी राजकुमारी कहां चली गयी? किसी ने उसे छिपाकर बन्द कर दिया या वह स्वयं ही सोने की डिबिया में अपने को छिपाये बैठी है? निर्जन अक्षम है, क्या इसलिए वह निर्जन पर नाराज है? वह एक सामान्य काम भी नहीं कर सका, क्या इसलिए वह उससे दूर ही रहती है?

पर वह सामान्य काम तो अब निर्जन ने कर दिया था। चन्द्रपीड़ का पता लगा लिया था। पर यह खबर उस तक कैसे पहुंचाता? किससे पूछता कि परीलोक की वह राजकुमारी कहां गयी?

इधर कई दिनों से डा० मजूमदार ही इस घर में आ रहे थे। इसीलिए इस बीच निर्जन चन्द्रपीड़ का पता मालूम कर सका था। उसका जापान का पता भी उसे मिल गया था। निर्जन घड़ियां गिनता रहता कि वह कब यह समाचार श्रावणी को सुनाए।

निर्जन तो फिर यथावत् मरीज को देखने के लिए आता रहा पर वह कहां गयी जिससे मिलने के लिए, जिसे कुछ कहने के लिए निर्जन व्याकुल हो उठा था।

अन्त में एक दिन मौका मिल ही गया। अनादि से आमने-सामने भेंट हो गयी। सीधा सवाल तो पूछा नहीं जा सकता था इसलिए निर्जन ने बहाना बनाया। बोला—आपसे भेंट हो गयी, अच्छा ही हुआ, अनादि बाबू! मैं कहना चाहता था कि मरीज के लिए चिकित्सा ही काफी नहीं होती

सेवा की भी जरूरत पड़ती है। मुझे शायद कहना नहीं चाहिए पर इसके सम्बन्ध में मैं तो यही कहूंगा कि सेवा में कमी हो रही है।

—यह बात है? पर करें भी क्या? आजकल नौकर-चाकर भी सब कामचोर हो गए हैं। अनादि बोला।

—देखिए, तनख्वाह लेकर काम करने वालों से सच्ची सेवा नहीं मिल सकती।

अनादि उदास होकर बोला—तनख्वाह वाले नौकरों के अलावा यहां और है ही कौन? जिनका दायित्व था जब वह ही···

डा० निर्जन अनादि की बात का गलत अर्थ लगा बैठा। वह विश्वमोहन की बात सोचकर बोला—मृत्यु पर तो किसी का बस नहीं चलता, अनादि बाबू?

—मृत्यु? अनादि हैरान होकर बोला—आप विशु भैया के लिए कह रहे हैं? मैं बेवकूफ हो सकता हूं, डाक्टर सोम, पर इतना नहीं। मैं भाभी के लिए कह रहा था। और तो और, सुन रहा हूं···

डा० निर्जन सोम बीच ही में बोल पड़ा—बाप के घर? मायके वे जाती भी थीं क्या?

—कभी नहीं जाती थीं। अब गयी हैं।

—क्यों? निर्बोध की भांति निर्जन पूछ ही बैठा।

—यह मैं कैसे बता सकता हूं। मर्जी ही समझ लीजिए।

—पर इनकी सेवा के लिए अब उन्हें जल्दी यहां आ जाना चाहिए।

—सेवा? हूं। घर की बात क्या बताऊं, डाक्टर बाबू। खैर, छोड़िए भी। असल बात तो यह है कि अब वह स्वतंत्रतापूर्वक रहना चाहती हैं।

—अच्छा? तो फिर अभी नहीं आएंगी?

—नहीं।

—यह गलत बात है। आप लोगों को जाकर कहना चाहिए।

—जाकर कहना? आप उन्हें जानते नहीं, डा० सोम। सारी दुनिया एक तरफ और वह अकेली एक तरफ। अजीब चीज़ है। एक मामूली-सा उदाहरण ही लीजिये। भाई के घर गयी हैं, अच्छी बात है। लोग जाते ही हैं। पर आप किसी परिवार की बहू हैं। अकेले श्रीखण्ड में जाकर स्कूल में

नौकरी करने की क्या जरूरत थी ? आप ही सोचिए। मामाजी की मान-प्रतिष्ठा सब धूल में मिल गयी। उनके भाई संजय बाबू बिलकुल ही बहन की तरह नहीं हैं। सीधे-सादे आदमी हैं। बहन के इस आचरण पर बड़े शर्मिन्दा हैं।···आप जा रहे हैं, डा० सोम ?

—नमस्ते, अनादि बाबू। मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। इनकी सेवा वगैरह···

स्कूल की पुरानी हेड मिस्ट्रेस अत्यंत ममता भरे स्वर में बोलीं—तुम्हारे इस दुर्भाग्य पर मैं बहुत दुःखी हूं, श्रावणी। तुम्हारे भैया एक दिन आए थे। सुना है तुम्हारे ससुर अभी जीवित हैं और वे सम्पन्न भी हैं। फिर भी देखो···

श्रावणी आंखें उठाकर थोड़ी मुसकरायी।

हेड मिस्ट्रेस चुप हो गयी। श्रावणी की हंसी का अर्थ समझ गयी। प्रसंग बदलकर बोली—तुमने बचपन में जिस माहेश्वरी उच्च प्राइमरी स्कूल में पढ़ा था उसे हाई स्कूल बनाने के लिए मुझे बड़े पापड़ बेलने पड़े।

थोड़ी देर बाद श्रावणी असल बात पर आयी। बोली—मैं स्कूल कम्पाउंड के ही किसी कमरे में रहना चाहती हूं। सुबह-शाम आना-जाना मेरे लिए थोड़ा मुश्किल पड़ता है।

हेड मिस्ट्रेस मनोरमा नियोगी बोली—स्कूल में क्वार्टर के नाम पर बस एक बंगला जैसा है पर वह भी रहने लायक अब रहा नहीं। खाली ही पड़ा रहता है। मरम्मत भी नहीं होती। स्कूल की बिल्डिंग के लिए सरकार को लिखती-लिखती थक गयी हूं, पर पैसा ही नहीं मिलता।

श्रावणी बोली—रहने लायक हो या नहीं, मैं उसे अपने लायक बना ही लूंगी। आप सिर्फ अपनी अनुमति दे दीजिए।

—तुम यहां की पुरानी छात्रा हो, तुम्हारा तो अधिकार है। तुम लोगों को तो आना ही चाहिए और इस स्कूल को नया रूप देना चाहिए। तुम्हारी तरह की और लड़कियां मिल जाएं तो शायद अभी भी मैं कुछ कर सकूं। पर तुम्हें कमरा चाहिए किसलिए, श्रावणी ! तुम्हारे भाई का घर तो शायद यहीं है। अधिक दूर भी नहीं।

श्रावणी उदास मुसकराहट लिये बोली—अपने बारे में जितना कम कहूं, उतना ही अच्छा है।

—सो तो ठीक है, लेकिन मैं सोच रही हूं तुम्हें जगह कहां दूं। दो अध्यापिकाओं को तो मैंने अपने घर में ही जगह दी है। गांव के स्कूल में रहने की व्यवस्था किये बिना बाहर के किसी को नौकरी पर बुलाना उचित नहीं, यह मैं समझती हूं। पर हमारी सरकार यह समझे तब न?

श्रावणी झट बोली—वह आदमी के रहने अयोग्य किस जगह की बात आप कर रही थीं, मैं उसे एक बार नहीं देख सकती?

—देख क्यों नहीं सकती? एक बार क्यों, हज़ार बार देखो। पर रह सकोगी या नहीं, यही बड़ी बात है। अनिमा और सेवा, जो अब मेरे घर पर ही रहती हैं, पहले यहीं पर थीं पर पिछली बरसात में छत में से इतना पानी गिरा कि भागे बिना और कोई चारा नहीं रहा। वैसे अभी तो बरसात का मौसम नहीं है पर···

—अगर वैसी बात हुई तो भैया का घर तो है ही। जाने पर भैया निकाल तो देंगे नहीं।

—वह भी संभव हो सकता है, श्रावणी। दुनिया में मैंने बहुत-कुछ देखा है···नहीं तो इतने सम्पन्न ससुर के रहते हुए भी···खैर, तुम कमरा देख लो।

फिर पूछा—अगली दो तारीख को ही ज्वाइन कर रही हो न?

—जी।

मकान या कमरा, उसे जो भी कहा जाए, देखकर श्रावणी चौंक उठी। स्कूल बिल्डिंग का ही एक टूटा हुआ अंश था। यह स्कूल किसी धनी का ध्वस्त मकान था। देश छोड़ जाने के पहले मां की याद में स्कूल के लिए दान में दे गए थे। मकान मालिक की मां माहेश्वरी देवी के नाम पर स्कूल का नाम रखा गया था। हेडमिस्ट्रेस ने जिसे बंगला बताया था, वह धनी परिवार में कभी आउट हाउस के काम आता था। अब उसका कोई अवशेष भी नहीं था।

दीवारों में दरारें पड़ चुकी थीं और उसकी आड़ में पीपल की टहनियां झांक रही थीं। बरसात में चूते पानी से दीवारों पर काई जम चुकी थी।

कमरे का फर्श भी ऊबड़-खाबड़ था—कहीं-कहीं पुरानी यादगार की तरह मोजाईक की टुकड़ियां रह गयी थीं। दरवाज़े-खिड़कियों में अलकतरा लगा था। इसी का नाम बंगला था! डेढ़ कमरे और छोटा-सा एक बरामदा।

—श्रावणी, यहां रह सकोगी?

हेड मिस्ट्रेस के प्रश्न के जवाब में फीके पड़े चेहरे में मुसकान भरकर श्रावणी ने 'हां' भर दी। सिर्फ बोली—दरवाजा अगर थोड़ा और मजबूत बन जाता तो···

रहना तो श्रावणी को पड़ेगा ही। यहीं रहकर वह अपने अतीत को भुला सकती थी। सुख की सारी स्मृतियां और परिचित दुनिया को बिसरा-कर ही श्रावणी एक नया जन्म ले सकती थी।

घर आकर अत्यन्त सहज ढंग से श्रावणी बोली—मैंने स्कूल में ही रहने की व्यवस्था कर ली है, भैया।

—व्यवस्था कर आयी हो यह तो जानता ही हूं। नौकरी की व्यवस्था तो ससुराल से चलने के पहले ही पक्की कर ली थी। पर मेरा भी हुक्म सुन लो। पितृकुल में रहकर, बाप-भाई के मकान में रहकर, उनके मुंह पर कालिख पोतकर नौकरी करने की अनुमति तुम्हें नहीं मिलेगी।

—मुझे यह मालूम है, भैया। इसीलिए कि बाप-भाई के आंगन में दाग न लगे, मैंने स्कूल की बिल्डिंग के ही किसी हिस्से में अपने रहने की व्यवस्था भी कर ली है।

—रहने की व्यवस्था भी कर आयी हो? संजय सेन चौंक उठा—इसका मतलब?

—मतलब-वतलब कुछ नहीं, भैया! वहां रहने पर आने-जाने का झमेला नहीं रहेगा।

अचानक संजय सेन गरम हो उठा। चिल्लाकर बोला—इतने कष्ट की भी क्या जरूरत थी? इससे तो अच्छा होता तुम भाई के गाल पर दो जूतियां ही कस देती। तेरे लिए वह आसान भी होता।

—ओफ़, भैया!

—मुझे भैया कहने की जरूरत नहीं। मेरा किसी के साथ कोई सम्बन्ध

नहीं। कल सुबह नींद से उठते ही घर में आग लगाकर मैं भी कहीं निकल जाऊंगा।

—नींद से उठने के बाद ही न? श्रावणी हंसकर बोली—अच्छा ही हुआ, नहीं तो नींद नहीं आने पर तो तुम्हारी तबीयत ही बिगड़ जाती।

—छोटी जीजी! भाभी रुआंसी-सी दौड़ी आयी—तुम हंस रही हो! देखती नहीं आग की तरह झुलस रहे हैं। सच में ही अगर मकान में आग लगा दें तो···

—भाभी, तुम डरो मत। घर में आग लगाने के लिए आग भैया के पास है नहीं। कहकर श्रावणी कमरे के अन्दर चली गयी।

और कमरे के अन्दर आकर बहुत बार पढ़ी हुई चन्द्रपीड़ की वह चिट्ठी श्रावणी एक बार फिर पढ़ने लगी जो लोकमोहन के घर पर रहते समय वह खोलकर पढ़ नहीं सकी थी। आखिर क्यों? शायद जिस तरह किसी विधर्मी के सामने लोग अपनी पूजा की शालिग्राम शिला को नहीं दिखाते, उसी भावनावश श्रावणी ने भी चिट्ठी को छिपा लिया था।

बड़ी लम्बी चिट्ठी लिखी थी चन्द्रपीड़ ने। बिना कहे चले जाने के कारण अपने को गंवार-पागल आदि अनेक गालियां बककर फिर लिखा था—दीदी, उस समय आपको किसी और रूप में देखा था और आज कुछ और ही। मेरी उस दृष्टि में बड़ों के प्रति श्रद्धा एवं स्नेही जनों के प्रति ममता से मन भर उठा था। कैसे सीमाहीन सूनेपन में आप रह रही हैं—उस दिन पास रहकर भी नहीं समझा सका था। शायद इसलिए भी कि अपना सूनापन अपने ही में समेट आप एक अपूर्व बड़प्पन से दूसरों को प्रभावित करती थीं। स्नेह बिखेरती थीं। आपके इस सूनेपन के इतने प्रखर रूप को आज मैं अपनी आंखों से नहीं, किसी दूसरे की आंखों से देख रहा हूं। मेरे जीवन में सहसा ही कोई आयी और पूरी तरह मुझे अपना बना लिया है। उसके सान्निध्य में रहकर मैं हर पुरानी चीज़ को नई दृष्टि से देखना सीख गया हूं। मेरी इस जीवनदायिनी का नाम है ओकाकुरा। आप उसके बारे में और जानने के लिए जरूर उत्सुक हो रही होंगी।

लड़की तो दीदी, जापानी है। उसके पिता जापानी दूतावास में नौकरी

कि मेरे जैसे एक सामान्य व्यक्ति को ढूंढने के लिए आप कितना कष्ट उठा रहे हैं, तब आप मुझे अपने जैसे ही लगते हैं। और उसी रिश्ते के बल पर कहता हूं कि आप शुरू से ही एक गलती कर बैठे, डा० सोम ! बेवकूफों तरह की गलती। फिर बड़े साफ और सीधे ढंग से चन्द्रपीड़ ने उसे श्रावणी के साथ अपने सम्पर्क के माधुर्य को एवं लोकमोहन के प्रस्ताव के बारे में बताया था। फिर लिखा था—अचानक ऐसा प्रस्ताव सुनकर मैं विचलित हो गया। चला आया। पर डाक्टर, मुझे लगता है आप तो अंधे हैं। नहीं तो आपके मन में कभी यह शक क्यों नहीं हुआ कि एक बड़े घर की विधवा, जो स्वभाव से घोर गम्भीर है, वह क्यों खामखा आपके पास अपने मन की वेदना या आकुलता को स्पष्ट करने लगी ? मि० लोकमोहन गुप्ता यदि अंधे नहीं हैं तो इस बार उचित जगह पर अपना प्रस्ताव पहुंचाएंगे। और मेरी दीदी का धूमिल जीवन फिर सार्थक हो उठेगा, फिर से जगमगाएगा।

चिट्ठी पढ़कर निर्जन तो स्तब्ध रह गया। लोकमोहन गुप्ता अपनी विधवा पुत्रवधू का पुनर्विवाह करना चाह रहे थे, ताज्जुब है, तो फिर चन्द्रपीड़ का यह दीदी का सम्बोधन क्या कोई छल था ? पर इतनी दूर बैठकर चन्द्रपीड़ झूठ का सहारा क्यों लेगा ?

सहसा निर्जन के मन में तीव्र शक्ति का ज्वार आया। अब वह असहाय की भूमिका नहीं निभाएगा। वह श्रावणी को पाने की साधना में जुट जाएगा। उसने तय कर लिया कि वह श्रीखंड जाएगा और श्रावणी को अपने मन की बात बताएगा। और फिर श्रावणी के मन की बात भी जानना जरूरी था। अपने मन को जानने से ही तो पूरी बात नहीं बनती, दूसरों के मन को भी परखना पड़ता है।

मनुष्य और जानवर में यही तो अन्तर है। मनुष्य जब तक सब-कुछ जान नहीं लेता, निश्चिन्त नहीं हो पाता। इसीलिए आदिम युग से ही वह कहता आया है—मुझे जानना पड़ेगा, मुझे जानना है। विश्व और प्रकृति के अनन्त रहस्यों को जानना ही होगा। अनादिकाल से चलती आयी इस दुनिया को जानना होगा। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों से सजे उस असीम शून्य को जानना पड़ेगा। भूत, भविष्य और वर्तमान—सभी कालों के उस सृष्टिकर्ता

को, अपने मन को और अपनी आत्मा को, सभी को जानना पड़ेगा।

मन के अन्दर मन—उस अन्तर्मन में न जाने कितने रहस्य हैं। निर्जन ने अपने उसी अन्तर्मन में झांका—जहां उसके मन ने हज़ारों पंखुड़ियों को फैला दिया था। उसने अपने मन से कहा—इतने दिनों तक क्या किया तुमने ? तुम सचमुच ही अन्धे हो, पागल भी हो। तुम्हारी प्रिया की सृष्टि तुम्हारे लिए ही हुई है—इस सीधी-सी बात को समझने में तुमने इतनी देर लगा दी, और एक भूल-भुलैया में भटकते रहे। चलो, अब उस सीमा को तोड़ डालो, विधि और समाज की चारदीवारी लांघकर उसे ले आओ। तभी तुम्हारा प्रेम सार्थक समझा जाएगा।

—तुम यहां ?

—हां, श्रावणी।

छोटे से दो शब्द ही तो थे पर लगा पृथ्वी के सभी समुद्र की लहरें एक साथ इन दो शब्दों के तटों पर टकरा गयीं। एक पल के लिए आकाश और सारा संसार मानो निस्तब्ध रह गये।

उसके बाद एक ने पूछा—यह तुम क्या कर रही हो ?

आंखें नीची कर दूसरे ने जवाब दिया—यही तो ठीक है।

श्रावणी के झुके हुए माथे की रिक्त मांग की ओर देखकर निर्जन बोला—यह ठीक नहीं है, श्रावणी। तुम ऐसा नहीं कर सकतीं। यह तो आत्महत्या के समान है।

—फिर तुम्हीं बोलो मेरे लिए अच्छा क्या है ?

—जो सत्य है, वही अच्छा है। श्रावणी, वही पवित्र है।

—तुम्हारे विचार और तुम्हारी समझ ही सत्य है, यह तुम कैसे कह सकते हो ?

—उसी तरह जिस तरह सूर्य की किरणों को समझ सकता हूं।

—मुझे क्या करना चाहिए, निर्जन ?

—सच्चाई के सूर्य को साहस के साथ अपना लो।

—यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

—प्रेम में शक्ति होती है, श्रावणी! उस शक्ति के आगे सब-कुछ संभव है।

—मैं कुछ सोच नहीं पा रही हूं।

—सोचने की जरूरत भी नहीं है। सारी चिन्ता को छोड़ तुम सिर्फ मेरी वात सोचो।

—तुम तो वड़े शान्त और भीरु थे, निर्जन। इतने अशांत, इतने साहसी कैसे वन गए ?

—सच कहूं ? तुम्हें पाकर भी नहीं पाकर।

—तुम तो मेरे वारे में कुछ नहीं जानते।

—तुम भी तो नहीं जानती। फिर भी हम एक-दूसरे को जानते हैं—यही वहुत है। मैं तुम्हें लेने आया हूं, श्रावणी।

—कैसी अजीव वातें कर रहे हो ?

—अजीव नहीं है इसीलिए तो कह रहा हूं। तुम्हें लिये विना मैं यहां से नहीं जाऊंगा।

—पर तुम्हारा घर ?

—मेरे घर का अर्थ है—मैं और मेरी मां। मेरी मां की महानता का तुम अन्दाज नहीं लगा सकती। तुम निश्चिन्त रह सकती हो।

—पर दुनिया क्या कहेगी ?

—दुनिया ? संभव है, धिक्कारेगी—छिः छिः कहेगी।

—सह सकोगे ?

—वड़ी आसानी से। उस समय लगेगा, वड़े मौके से सुमति हुई। नहीं तो वड़े सस्ते में विक रहा था।

श्रावणी वोली—निर्जन, भावावेश में कुछ मत वोलो। ऐसा भी हो सकता है कि वाद में तुम्हें अफसोस हो। लगे कितनी तुच्छ कीमत पर मैं विक गया।

—छोड़ो भी इन वातों को। उसके लिए तो सारा जीवन पड़ा है। अभी तो तुम्हें हरकर ले जाऊंगा।

—समझ में नहीं आता निर्जन, प्यार देने का या पाने का अधिकार सच में अव मुझे है या नहीं। यह भी नहीं समझ पा रही हूं कि अपने को मैं माफ कर सकूंगी या नहीं। उस दिन मैंने भी तो यही सोचा था कि मेरा वही परम सत्य है। विधाता के दिए उसी धन को तो सहारा माना था।

—उस दिन वह भी झूठ नहीं था, श्रावणी। प्रेम क्या है जानने का मौका था। विश्वमोहन के प्रति तुम्हारा प्यार झूठ नहीं था। गलत नहीं था। पर जीवन के बीच मृत्यु को संजोकर रखना गलत है।

—यही तो नियम है। ऐसा ही तो होता आया है।

—होता आया है इसीलिए क्या हमेशा होता रहेगा? तिल-तिल मरने के लिए जहां आयी हो, जिस जगह का निर्वाचन तुमने किया है, क्या तुम वहां रह पा रही हो? सच-सच बताओ।

निर्जन की तरफ देखकर श्रावणी बोली—अपना क्रोध मेरे कमरे पर उतार रहे हो?

—बिलकुल नहीं। लाख बार इसका धन्यवाद मानता हूं कि अभी तक इसकी छत तुम्हारे सिर पर टूट नहीं पड़ी।

—टूट पड़ती तो बुरा क्या होता।

—नहीं, बुरा तो खैर क्या होता। अन्त्येष्टि का खर्च बच जाता। पर तुम्हारे अभिभावकों का विवेचन भी सराहनीय है।

—उनका क्या दोष? मैं तो अपनी मर्जी से चली आयी।

—यों ही आकर इतने कष्ट में रह रही हो, इसके पीछे कोई गहरा कारण तो अवश्य ही होगा।

—नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं, निर्जन। अगर कारण कुछ था तो वह यह कि एकान्त में मैं अपने मन को समझना चाह रही थी।

—क्या समझी?

—यही कि यह कोई समझने की वस्तु नहीं।

—अच्छी बात है। पर सीधी-सी इस बात को थोड़ी मिठास से भी बोल सकती थी कि समझी कि मन निर्जनमय हो गया है।

श्रावणी ने अपने आरक्त चेहरे को निर्जन की ओर एक लमहे के लिए उठाया। फिर शर्म से पलकें झुका लीं।

—हम लोग अगली ट्रेन से चल रहे हैं। समझीं।

—हम लोग? इतनी बातचीत हो जाने के बाद भी श्रावणी कांप उठी। बोली—यह क्या ठीक रहेगा?

—फिर बोलो तुम क्या ठीक समझती हो? क्या तुम्हारे भैया के आने

हाथ जोड़कर कहूं कि मैं उनकी वहन का पाणिग्रहण करना चाहता हूं।

—धत् !

—तो फिर तुम्हारे पूज्य अभिभावक लोकमोहन गुप्ता जी से दरखास्त करूं ?

—यहीं पर आकर मैं वड़ी दुविधा में पड़ी हूं, निर्जन।

—मन को दुविधा-मुक्त करना सीखो, श्रावणी। एक वार फिर कहूंगा कि सच को समझने की कोशिश करो। तुम्हें ऐसे वातावरण में, ऐसी परिस्थिति में छोड़कर चला जाना मेरे लिए कितना असंभव है इसे भी समझने की कोशिश करो।

—कोशिश ही तो कर सकती हूं। पर सोच रही हूं तुमने मुझे खोज कैसे निकाला ? मैं तो अज्ञातवास में थी।

—अनादि वावू से वड़ी चालाकी से पता लगा लिया। खैर, अव फालतू वातें रहने दो। वाकी वातें ट्रेन में कर लेना। अव तो वस चलने की तैयारी में जुट जाओ।

श्रावणी सिर झुकाकर वोली—पर किसी को कुछ कहे विना छिपकर चला जाना तो वचकाना होगा। एक वार वहां चलकर···

—वहां ? लोकमोहन गुप्ता के कव्जे में ? मुझे तो लगता है कि आंख से परे होते ही मैं तुम्हें खो डालूंगा।

—कहां खो सकी मैं ?

—इसके लिए दुःख हो रहा है ?

—शायद मेरे लिए तुम दुःख पाओ यह सोचकर दुःख जरूर हो रहा है।

—छिः, श्रावणी !

सहसा दोनों ही चुप हो गए। निस्तरंग समुद्र की स्तव्धता दोनों पर छा गयी। पर स्वच्छता और मौन तो पवित्र होते हैं। शव्द तो सतही चीज़ है। फिर भी उस मौन के वीच हवा का कम्पन था, आवेश की छोटी-छोटी लहरें थीं।

—पहली वार जव मैंने तुम्हें देखा उस दिन कौन-सी तिथि थी ? किस शुभ लग्न में वह योग हुआ था, कह सकती हो ?

—क्षण शुभ था या अशुभ, यह तो भगवान ही जाने। पर मुझे तो अपने से ही डर लगता है। मेरे भाग्य में सुख क्या लिखा भी है ? प्यार भोग भी सकूंगी ?

—लिखा है, श्रावणी—लिखा है।

—क्या पता ? श्रावणी के अन्तस्तल से एक लम्बी सांस निकल आयी।

—तुम्हारा नाम बड़ा सुन्दर है। बुरा मत मानना। तुम्हारी खोज में जब तुम्हारे भैया के घर पहुंचा तो सभी को देखा। आश्चर्य है इस घर में तुम्हारा काव्यमय नाम किसने रखा ?

—सुना है मेरी दादी ने।

—दादी ?

हंसकर श्रावणी बोली—दादी कहती थी कि लड़कियों के लिए नाम की क्या परेशानी। बड़ी बहन वैसाख में जन्मी तो उसका नाम वैसाखी रख दिया—मैं सावन में जन्मी तो श्रावणी बन गयी।

अपने हाथों में रखे श्रावणी के हाथों पर थोड़ा दबाव डालकर निर्जन बोला—तुम्हारी दादी को मैं धन्यवाद देता हूं।

—पर मैं भी कितनी अजीब हूं। श्रावणी बोल उठी—तुम्हें आए कितनी देर हो गयी, एक बार भी न कुछ खाने के लिए पूछा और न ही थोड़ी-सी चाय ही बनायी।

—बाकी सारे जीवन इस पाप का प्रायश्चित करना।

—कुछ भी हो, अभी तो थोड़ा कुछ खाना ही पड़ेगा।

—नहीं, अपने लिए मैं तुम्हें उठने नहीं दूंगा।

—तो फिर किसके लिए उठूंगी ?

—मेरे पास सिर्फ बैठी रहो।

—ठीक है।

—अरे, बाप रे! उठो-उठो। पांच बजकर पैंतीस मिनट पर ट्रेन छूट जाएगी।

—उससे क्या ? मैं तो नहीं उठती।

—अच्छा बाबा, मैं अपनी बात वापस ले रहा हूं। अब तो उठो। स्टोव जलाओ, चाय बनाओ और फिर झटपट तैयार हो जाओ। तुम्हारा

सामान क्या-क्या है बताओ, मैं उसे जचा देता हूं।

—सामान तो बस जितना आंखों के सामने दिख रहा है, इससे अधिक कुछ भी नहीं।

—बस इतना ही ?

—हां निर्जन, इतना ही।

—श्रावणी !

—बोलो।

—किसके लिए तुम अपने को इतना कष्ट दे रही हो ?

—मालूम नहीं। शायद स्वयं अपने लिए ही।

—केवल एक कप चाय बना रही हो ? ऐसा करोगी तब मैं नहीं पीता।

—पर इस समय तो मैं चाय पीती नहीं।

—मैं भी नहीं। पर अब पीऊंगा तो तुम्हारे हाथ से और तुम्हारे साथ ही बैठकर।

—कितनी मुश्किल है।

—अच्छा बोलो तो, हम लोगों ने कब से एक-दूसरे को तुम कहना शुरू कर दिया ?

—क्या पता ? याद नहीं आ रहा।

—लगता है हमेशा से हम ऐसा ही बोलते आये हैं। है न ?

—हो सकता है।

—सिर्फ चाय ही दे रही हूं। बड़ी शर्म आ रही है।

—पर मुझे बड़ा मजा आ रहा है।

—इसी तरह हम चुपचाप अनन्त काल तक बैठे नहीं रह सकते, निर्जन !

—अगर सकते तो अच्छा होता पर अभी तो उठना ही पड़ेगा। ट्रेन का समय हो रहा है।

—उसके पहले एक बार भैया के यहां···

—भैया ? तुम्हारे उस भयंकर भैया के यहां—बाप रे !

—क्यों ? खूब डांट पिलाई है भैया ने क्या ? श्रावणी हंस पड़ी।

—मुझे डांटने की तो क्या हिम्मत पड़ेगी ? डांट अपनी बहन की

अनादि सोचने लगा—मैंने तो अपना कर्तव्य निभा दिया। चाहे श्रावणी कलंक की कालिख थोपे या यहां बैठी ही क्यों न रह जाय इस हालत में तो श्रावणी का न जाना ही अच्छा रहेगा। नहीं तो मामा और मामी को तो इसी लड़की के हाथों का पानी पीना पड़ेगा। और फिर एक बार इस महारानी के वहां कदम रखने की देर है, अनादि का सारा प्रताप मिट्टी में मिल जाएगा। अनादि की तो यहां आने की इच्छा ही नही थी। पर अनुसूया का आदेश टाल भी तो नहीं सकता था ? खैर, आकर अच्छा ही किया। यहां का आंखों-देखा हाल मामी को अच्छी तरह बता सकेगा।

—अच्छा तो मैं चलती हूं। ट्रेन का समय हो चुका है। श्रावणी उठ खड़ी हुई।

संजय सेन चौंककर बोला—यह कैसे हो सकता है, अनादि बाबू ! आप हमारी बहन की ससुराल के हैं। थोड़ा नाश्ता-पानी तो करना ही पड़ेगा।

—तो फिर आप नाश्ता-पानी कीजिए, अनादि बाबू ! मैं इसी पांच बजे की गाड़ी से रवाना हो रही हूं।—सफेद मलमल की धोती पर एक चद्दर लपेटकर श्रावणी दरवाजे के बाहर आकर खड़ी हो गई।

—मैं जानता था कि ऐसा ही कुछ होगा। उदास नजरों से देखता हुआ निर्जन बोला।

—मैं भी, निर्जन। श्रावणी थोड़ा मुसकरायी मानो वह मुसकराहट भाग्य की निर्ममता पर विजय पाने की चुनौती हो।

—मैं तुम्हें जाने नहीं दूंगा, श्रावणी।

अनादि और संजय की परवाह किए बिना ही निर्जन श्रावणी के कोमल हाथों को पकड़कर बोला—क्यों जाओगी तुम वहां ? वे तुम्हारे कौन होते हैं ? उन लोगों से अब तुम्हारा कोई रिश्ता नहीं। वहां तुम्हारा कुछ भी तो नहीं, श्रावणी। तुम्हें कोई नहीं चाहता, कोई प्यार नहीं करता।

अत्यंत धीरे से निर्जन का हाथ छुड़ाकर श्रावणी बोली—अगर ऐसा

होता तो मेरा जीवन बड़ा सहज हो जाता, निर्जन। यही तो सारी समस्या है।

—लेकिन तुम तो उस वन्धन को तोड़कर चली आयी थीं, श्रावणी।

—चली आयी थी सच है। पर वंधन से मुक्त हो सकी हूं या नहीं, यह परीक्षा अभी तक हुई नहीं थी। आज उसी परीक्षा का प्रश्न-पत्र सामने पड़ा है।

—क्या उत्तर दोगी इसका ?

—अभी तक तय नहीं कर पायी हूं। वड़ी सुन्दर सुकुमार सुलभ हंसी हंसकर श्रावणी बोली—पहले परीक्षा के हॉल में जाऊं तो सही।

—एक वार अन्दर जाने पर निकल नहीं पाओगी।

—कोई अगर निकलना चाहे तो आसानी से निकल सकता है।

कौन किसके साथ जा रहा है, कहां जा रहा है, अनादि की समझ में कुछ आ ही नहीं रहा था। स्टेशन पर आकर उसने देखा कि श्रावणी ने भी टिकट खरीदा। डा० सोम ने भी खरीदा। श्रावणी लेडीज कम्पार्टमेन्ट में जाकर वैठी।

यह सब रंग-ढंग अनादि नहीं समझ सका। डा० सोम [illegible] ही आया था, या रोज़ ही आता था ? अनुसूया को [illegible] से डा० सोम देखने नहीं आया था। लोकमोहन की [illegible] उसने आना छोड़ दिया था—उसी दिन से जिस दिन [illegible] पर गुस्सा होकर शीशे के गिलास को पटककर [illegible]

जव हावड़ा स्टेशन पर गाड़ी रुकी और [illegible] घर से गाड़ी आएगी या टैक्सी करनी पड़ेगी [illegible] में वात आयी।

बरबाद होंगे उसकी पाई-पाई मैं चुका दूंगा।

पाई-पाई के आश्वासन से तो नहीं, पर डा० मजूमदार को लोकमोहन के पास बैठना ही पड़ता है। बैठे-बैठे लोकमोहन की अवहेलना भरी अंतरंग बातें भी सुननी पड़ती हैं। इसी डाक्टर के सामने तो वे थोड़ा खुले हुए थे। दोनों की बीमारी के बाद वह और भी खुल गए थे। अल्पभाषी लोकमोहन अब अनर्गल बातें करने लगे थे। डा० मजूमदार से कहते—जानते हो डाक्टर, अपने को सबसे अलग रखकर ही स्वयं को समझा जा सकता है। गृहस्थी में रहकर भी अलग पड़े रहने से अपना परिचय मिल जाता है। रोग-शैया इसके लिए बड़ी अच्छी जगह है। बिस्तर में पड़ा-पड़ा देख रहा हूं कि मैं नहीं हूं, फिर भी गृहस्थी चल रही है। तभी तो मालूम होता है कि इस गृहस्थी में मेरा स्थान क्या है। आज बिस्तर में पड़ा-पड़ा मैं यह समझ सकता हूं कि बहू ने उस दिन मेरी ऊंची भावना से दिए दान को क्यों ठुकरा दिया था। क्यों बोली थी—'मुझे माफ कीजिए।' मेरी वह इच्छा सात्विक नहीं थी, राजसिक थी, मुझमें अहम् था। फिर कहते-कहते उत्तेजित होकर बोले—तुम जानते हो डाक्टर, जब यहां से बहू गई, त्रिशु की पुरानी धोती पहनकर गई। पतले किनारे की मर्दानी धोती। यह देखकर तुम लोगों की मिसेज गुप्ता बोली—आज उसका रूप देखकर मेरी आंखें तृप्त हुईं। मैं भी चुप रहा। मैं इसका विरोध भी नही कर सका। सच पूछो तो मेरी आंखें भी निःशब्द यही चाह रही थीं। उसके बाद जब मैं सोचने लगा तो···डाक्टर, तुम ध्यान से नहीं सुन रहे हो।

—सुन रहा हूं, मि० गुप्ता।

—फिर जम्हाई क्यों ले रहे हो ?

—शारीरिक थकावट है, और कुछ नहीं।

लोकमोहन बोले—हां, मुझे भी उस समय यही लगा कि यह ठीक है। मैं ही इतने दिनों से गलती कर रहा था। लेकिन डाक्टर, तब तक सन्देह ने मन में घर कर लिया था। लग रहा था मैंने शेरनी को खून का स्वाद चखा दिया है। 'घास-पात अच्छा है' कहकर जिसने मुझे चकित कर दिया था, शायद उसकी रुचि अब बदल रही है। मन में भयंकर यंत्रणा होने लगी। प्रेशर बढ़ गया। गुस्से में आकर वसीयत बनायी कि मेरे लड़के की मृत्यु

मेरे जीते-जी हुई है। कानूनन उसका कोई हक नहीं, फिर भी वसीयत मे
मैंने उसे अपने सब-कुछ का मालिक बना दिया कि जैसी मर्जी वह खर्च
करेगी, पर एक शर्त पर—वह यह कि वह लोकमोहन गुप्ता की पुत्रवधू
है, यह परिचय उसे रखना ही पड़ेगा।

तुमसे क्या छिपाऊं, डाक्टर? सोचा था मेरी इस उदारता से वह
पिघल जाएगी। फिर कभी नहीं कह सकेगी—अपनी बात मुझे ही सोचने
दीजिए, पिताजी। वसीयत जब उसके पास भेजने के बारे में सोच ही रहा
था कि खबर मिली—वह भाई का घर छोड़कर स्कूल में नौकरी लेकर
चली गई है। एक टूटी-सी कुटिया में रहती है। तब? तब मुझे कैसा लगा
तुम समझ सकोगे, डाक्टर? मैं उसे जैसी अब तक सोचता आया था, वह
वैसी नहीं थी। हिसाब ही नहीं बैठा रहा था। उसे अपनी इस सम्पत्ति का
लोभ दिखाना उस पर व्यंग्य करना होगा। जिसके जीवन में खुशी ही खत्म
हो गई है, वह सम्पत्ति लेकर भी क्या खुशी हासिल कर सकेगी? काशी
में भंडारा चढ़ाएगी? पुरी-जगन्नाथ के मन्दिर में दान देगी? पंडे को
सोने की खड़ाऊं बनवा देगी? उस समय अपने पर भयंकर घृणा हुई,
डाक्टर। प्रेशर बढ़ता गया और धिक्कार के आवेश में मैंने वह वसीयत
फाड़ डाली।

इस बार फिर बड़ी बुद्धि खर्च कर नयी वसीयत बनायी। इस बार
शर्त रखी—अगर वह फिर विवाह करेगी तभी लोकमोहन गुप्ता की
सम्पत्ति की उत्तराधिकारी बन सकती है। वकील आंखें फाड़े मुझे घूरता
रहा। सोचा होगा कि बुड्ढे की दिमागी हालत नाजुक है। बोला भी—
अभी पक्की वसीयत बनाने की जल्दी भी क्या है। पर मैंने उसे डांटकर
वसीयत पक्की करा ली।

पर इतना सब तुम्हें क्यों बता रहा हूं, डाक्टर? तुम तो सारी बातें
जानते ही हो।

—हां, मि० गुप्ता! मुझे सब-कुछ मालूम है। आप अधिक न बोलिए।

—तुम्हें मालूम है सब-कुछ! नहीं डाक्टर, तुम कुछ भी नहीं जानते।
दूसरों के सामने सब-कुछ जानने की बड़ाई करना पर मेरे सामने नहीं।
तुम्हें मालूम है अनादि बहू को लाने के लिए गया है?

—जानता हूं। सुना है।

—सुना है। अच्छी बात है। तुम्हें क्या लगता है, वह आयेगा ?

—आना तो चाहिए।

—क्यों ? चाहिए क्यों ? उत्तेजनावश लोकमोहन ने अपनी गर्दन उठानी चाही, पर वह बिस्तर पर ही रगड़ खा गयी। चिल्लाकर बोले—बोलो डाक्टर, उसका यहां आना क्यों और किसलिए उचित है ? एक छोटी-सी सुकुमार लड़की से हम लोग क्यों कर्तव्य की इतनी उम्मीदें लगाये बैठे हैं ? उसके साथ हम लोगों ने क्या उचित व्यवहार किया है ? हमने किसी दिन यह भी समझने की कोशिश की कि आखिर वह क्या चाहती है ?

—मि० गुप्ता, आपको और उत्तेजित नहीं होना चाहिए। हानि होगी।

—हानि ? क्षति ? घृणा से लोकमोहन का चेहरा विकृत हो उठा—चिल्ला-चिल्लाकर बातें करने से मुझे नुकसान पहुंचेगा। डाक्टर, तुम लोग बड़े बेशर्म होते हो। सुनो डाक्टर ! वह अगर अनादि के साथ नहीं आयी तो मैं उसे दोष नहीं दूंगा। एक बार फिर नयी वसीयत बनाऊंगा और उसे सब बातों की छूट दे जाऊंगा।

—मि० गुप्ता, आपके पारिवारिक मामलों में कुछ न कहना ही ठीक है। पर दोस्त की तरह आपने मुझे माना है इसलिए पूछता हूं कि मिसेज गुप्ता के प्रति क्या आपका कोई कर्तव्य नहीं ?

—मिसेज गुप्ता ? आई सी। क्या करूं, डाक्टर ! उसकी बात मुझे याद ही नहीं रहती। और फिर सम्पत्ति की उसे जरूरत भी क्या है ! वह तो किसी भी क्षण दम तोड़ सकती है।

—दम नहीं भी तोड़ सकती है। डा० मजूमदार आरक्त होकर बोले—हो सकता है बहुत दिन और भी जी जाएं।

—क्या बकते हो, डाक्टर। सच कह रहे हो ? तब तो मेरे पास उसका कुछ भी प्राप्य नहीं है। सारी जिन्दगी मैं यही सुनता आया हूं—मैं मर रही हूं, मर गयी। यह कह-कहकर उसने मुझसे बहुत कुछ छीना है। मैंने उसका ऋण चुका दिया है···बोलो, ठीक कह रहा हूं न ?

—मैं कुछ नहीं कहना चाहता, मि० गुप्ता।

—डाक्टर ! तुम्हारी बात सुनकर तो लगता है कि मिसेज गुप्
यदि तुम जैसे किसी सहृदय व्यक्ति के हाथों पड़ती तो···अरे, अरे ! क्य
हुआ ? उधर से अचानक रोने-धोने की यह कैसी आवाज़ आ रही है
देखो तो डाक्टर, मामला क्या है ?

हां। अनुसूया रो रही थी। समुद्र के वेग की तरह नहीं, सामर्थ्यही
गले से चीं-चीं कर विलख रही थी। डा० मजूमदार को उठकर देखने क
जरूरत नहीं थी। मामला साफ था। श्रावणी आयी थी। श्रावणी क
देखकर अनुसूया के हृदय के उमड़ते दुख को सहारा मिला था। वोली—बह
अव फिर कभी हम लोगों को छोड़कर मत जाना, वेटी। तुम्हारे चले जा
से, अयत्न और अवहेलना से तुम्हारे ससुर का क्या हाल हुआ है,
जाकर देख—क्या थे, क्या बन गए हैं।

सान्त्वना का कोई स्वर सुनाई नहीं पड़ा। श्रावणी की आवाज़ सरल
मृदु और शांत थी। जिस स्वर में कभी रस था, शायद भाग्य की ज़हरील
हवा से वह सूख गया था। इसलिए साफ सूखे कंठ से वोली—अब औ
क्यों रो रही हैं, मैं तो आ गयी हूं।

हां ! श्रावणी फिर आयी थी। संभावनाओं से पूर्ण जीवन को पीछे
छोड़कर फिर एक वार आयी थी। पर यहां जो कुछ छोड़ गयी थी, वह भ
तो अव खो चुका था। कहां गयी वह शीतल छांह जहां बैठकर वह उदासी
के दो क्षण काट लेती थी। सब-कुछ अस्त-व्यस्त हो गया था।

श्रावणी के उसी कमरे में लोकमोहन ने अपनी अंतिम शैया बिछा
थी।

लेकिन क्यों ?

यों ही अचानक ही उस दिन ताला खुलवाकर लोकमोहन इस कमरे
में आए थे। अकेले ही बहुत देर तक चहलकदमी करते रहे थे। टेबल के
दराज, किताबों की अलमारी—सभी कुछ खोलकर देख रहे थे। उसके
वाद तो किसी को कुछ भी नहीं मालूम कि वे कव वेहोश होकर ज़मीन पर
गिर पड़े। नौकर ने किसी तरह उनके पत्थर-से अवश शरीर को डवल

बेड पर सुला दिया था—और तब से लोकमोहन वहीं उसी बिस्तर पर हैं पड़े थे। उनको हिलाने-डुलाने का साहस भी किसी ने नहीं किया था विश्वमोहन ने जहां सोकर अंतिम सांस ली थी आज लोकमोहन भी वहं पड़े अपने अंतिम पल गिन रहे थे। पर पल गिनने पर ही क्या मृत्यु किसं के करीब आ जाती है ? शायद मौत को अचानक आकर कीमती जान कं चुराने में ही खुशी होती है। प्रतीक्षा की घड़ियां गिनने वालों पर उसे रुचि नहीं होती। क्या मालूम लोकमोहन को भी प्रतीक्षा के कितने पल गिनने पड़ें ?

आते ही श्रावणी लोकमोहन के पास जाने के लिए अधीर हो उठी थी —पर अपने कमरे का इतिहास सुनकर थोड़ी देर के लिए अपने को संभाल नहीं पायी। फिर भी शक्ति जुटाकर धीरे-धीरे लोकमोहन के पास जाकर खड़ी हुई। आदत के मुताबिक उनके पैरों की तरफ अपना हाथ बढ़ाया।

—बस-बस ! पैर हटाने की कोशिश में लोकमोहन का सारा शरीर सिकुड़ उठा। पर पैर हिला तक नहीं। फिर हंसकर बोले—सोते हुए व्यक्ति को प्रणाम नहीं करते, बेटी ! आयु घट जाती है। जानती नहीं ?

श्रावणी ने अपने हाथों को समेट लिया—पलंग के छोर पर टिकाकर खड़ी रही। कमरे के चारों तरफ नजर दौड़ाने का साहस उसे नहीं हो रहा था, मानो नजर उठाते ही यह कमरा अपरिचित-सा लगने लगेगा।

—क्या देख रही हो, बेटी ? तुम्हारा यह कमरा तुम्हारे इस बूढ़े लड़के ने दखल कर लिया है, इसलिए अवाक् हो रही हो ? श्रावणी चौंक उठी। चौंककर ही उसने लोकमोहन की तरफ देखा कि उनके चेहरे की सारी रेखाएं बदल चुकी थीं।

यह चेहरा कैसा था—किसी असहाय, पश्चाताप से जर्जरित, दया-प्रार्थी का चेहरा ? या पृथ्वी से अपनी मुट्ठी ढीली कर ली हो—ऐसे किसी पवित्र वृद्ध का ?

फिर श्रावणी हार-जीत के खेल का प्रश्न कैसे उठाती—यहां तो जीत ही हार थी।

श्रावणी के मौन चेहरे को देखकर लोकमोहन बोले—यह तो तुम्हारा

वेड पर सुला दिया था—और तव से लोकमोहन वहीं उसी विस्तर पर ही पड़े थे। उनको हिलाने-डुलाने का साहस भी किसी ने नहीं किया था। विश्वमोहन ने जहां सोकर अंतिम सांस ली थी आज लोकमोहन भी वहीं पड़े अपने अंतिम पल गिन रहे थे। पर पल गिनने पर ही क्या मृत्यु किसी के करीव आ जाती है ? शायद मौत को अचानक आकर कीमती जान को चुराने में ही खुशी होती है। प्रतीक्षा की घड़ियां गिनने वालों पर उसे रुचि नहीं होती। क्या मालूम लोकमोहन को भी प्रतीक्षा के कितने पल गिनने पड़ें ?

आते ही श्रावणी लोकमोहन के पास जाने के लिए अधीर हो उठी थी —पर अपने कमरे का इतिहास सुनकर थोड़ी देर के लिए अपने को संभाल नहीं पायी। फिर भी शक्ति जुटाकर धीरे-धीरे लोकमोहन के पास जाकर खड़ी हुई। आदत के मुताविक उनके पैरों की तरफ अपना हाथ वढ़ाया।

—वस-वस ! पैर हटाने की कोशिश में लोकमोहन का सारा शरीर सिकुड़ उठा। पर पैर हिला तक नहीं। फिर हंसकर वोले—सोते हुए व्यक्ति को प्रणाम नहीं करते, वेटी ! आयु घट जाती है। जानती नहीं ?

श्रावणी ने अपने हाथों को समेट लिया—पलंग के छोर पर टिकाकर खड़ी रही। कमरे के चारों तरफ नजर दौड़ाने का साहस उसे नहीं हो रहा था, मानो नजर उठाते ही यह कमरा अपरिचित-सा लगने लगेगा।

—क्या देख रही हो, वेटी ? तुम्हारा यह कमरा तुम्हारे इस वूढ़े लड़के ने दखल कर लिया है, इसलिए अवाक् हो रही हो ? श्रावणी चौंक उठी। चौंककर ही उसने लोकमोहन की तरफ देखा कि उनके चेहरे की सारी रेखाएं वदल चुकी थीं।

यह चेहरा कैसा था—किसी असहाय, पश्चाताप से जर्जरित, दया-प्रार्थी का चेहरा ? या पृथ्वी से अपनी मुट्ठी ढीली कर ली हो—ऐसे किसी पवित्र वृद्ध का ?

फिर श्रावणी हार-जीत के खेल का प्रश्न कैसे उठाती—यहां तो जीत ही हार थी।

श्रावणी के मौन चेहरे को देखकर लोकमोहन वोले—यह तो तुम्हारा

बान की चिंता है। नर्स आएगी। नौकर-चाकर और सर्वोपरि गुणों की निधि मेरा यह डाक्टर है। मेरा काम तो चल ही जाएगा, बेटी। डाक्टर को घंटों के हिसाब से फीस दूंगा—तय हो गया है।

—बाबू जी ! यह नहीं हो सकता।

—नहीं हो सकता ? क्या नहीं हो सकता, बहू ? इस डाक्टर को…

—मेरा जाना नहीं हो सकता।

—नहीं हो सकता ?

—नहीं, बाबू जी।

—मुझसे नहीं होगा।

अजीब सूनेपन से डा० निर्जन ने पूछा—नहीं होगा ?

—नहीं, निर्जन, अब नहीं हो सकता।

—पर उनके पास तो पैसा है, हजारों सुविधाएं हैं।

—हम लोगों के लिए भी तो…श्रावणी ने कहा—प्रतीक्षा करने के लिए समय पड़ा है, प्रतीक्षा करने की शक्ति भी है।

—यह प्रतीक्षा अनिर्दिष्ट समय के लिए भी तो हो सकती है, श्रावणी !

—हो सकता है। यही तो शक्ति की परीक्षा है।

—मां को कह आया था बहू ला दूंगा।

एक फीकी हंसी हंसकर श्रावणी बोली—तुम्हारे पास मेरी सीमाहीन त्रुटियां हैं, सोम।

—हार ही गई अंत तक ?

और एक बार श्रावणी हंसी—स्निग्ध कोमल हंसी। फिर बोली—हार गयी या जीत गयी—इसकी मीमांसा अभी तो नहीं हो सकती, निर्जन ! अभी तो शुरू ही है।